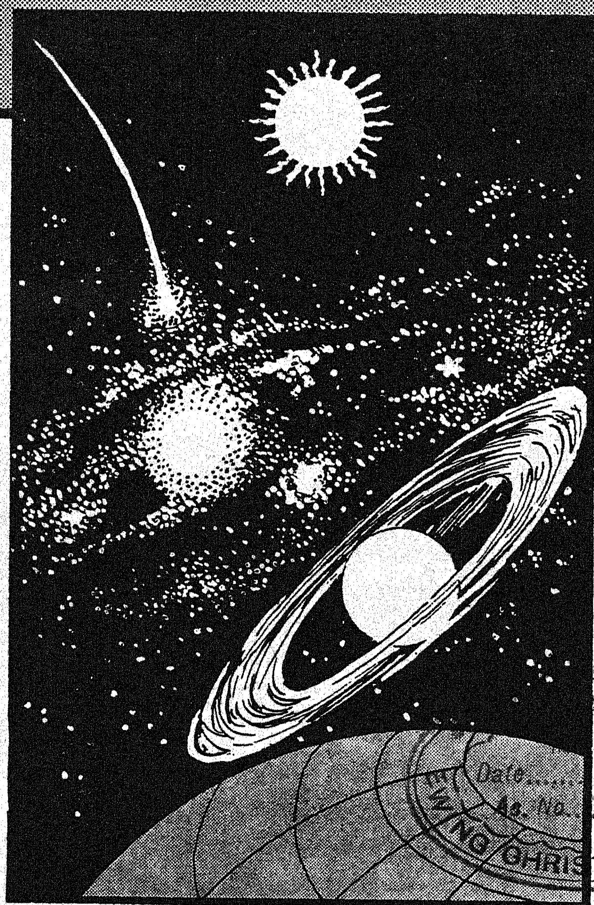
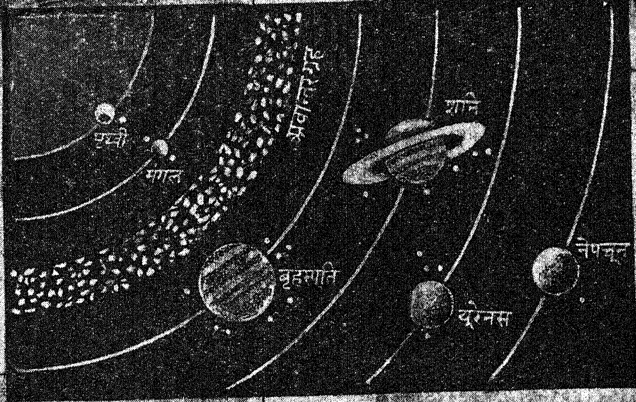
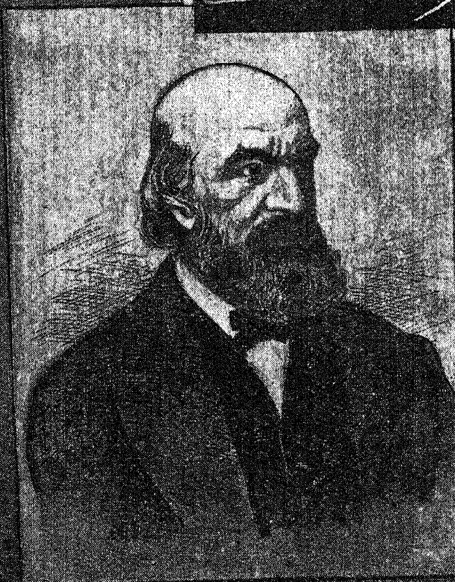


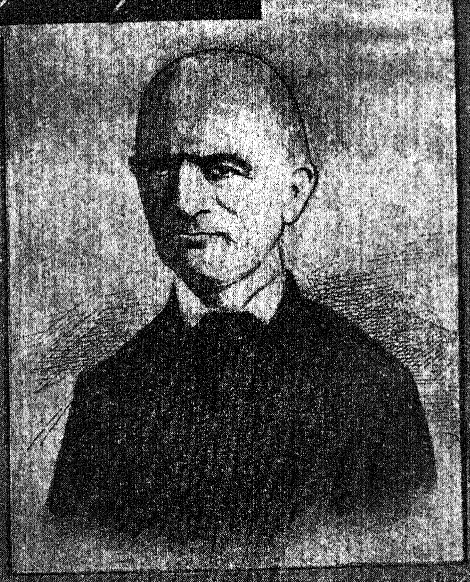
विश्व की कहानी











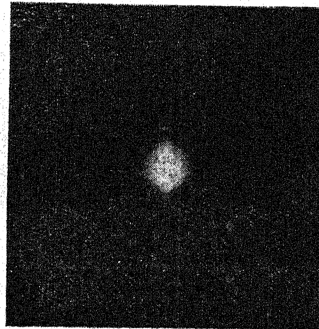
(ऊपर) बाईं ओर—विलियम हरशेल, जिसने यूरेनस की खोज की; दाहिनी ओर—लेवेरियर, जिसकी गणना से नेपच्यून का आविष्कार हुआ। (नीचे) बाईं ओर—ऐडम्स, जिसने लेवेरियर से पहले ही गणना करके नेपच्यून की स्थिति बतला दी थी; दाहिनी ओर—गाले, जिसने दूरदर्शक द्वारा पहलेपहल नेपच्यून का आकाश में पता लगाया था।



शनि के उस पार—यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो

ये तीनों ग्रह सौर जगत् के सीमान्त के निवासी हैं और यूरेनस को छोड़कर शेष बिना दूरदर्शक की सहायता के नहीं देखे जा सकते। इनकी खोज इस युग की सबसे अचरजभरी करतूतों में मानी जा सकती है।

शनि के उस पार तीन ग्रह हैं—यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो। इनका आविष्कार अपेक्षाकृत हाल में ही हुआ है। बुध, शुक्र, आदि प्राचीन ग्रहों का आविष्कार इतने सुदूर भूतकाल में हुआ था कि कोई नहीं जानता कि पहले-पहल वे कब देखे गए थे। यूरेनस ही प्रथम ग्रह है जिसके आविष्कार की कथा हमें ज्ञात है। विलियम हरशेल ने १३ मार्च, १७८१, की रात में इसे पहले-पहल देखा। नवीन ग्रह के देखे जाने की किसी को संभावना ही नहीं थी। वस्तुतः स्वयं हरशेल को ही विश्वास न हुआ कि उसने कोई ग्रह देखा है। उसने समझा कि जिस पिंड को उसने देखा था, और जो किसी प्रकार से तारा हो नहीं सकता था, कोई नवीन पुच्छल तारा होगा। इसमें पूँछ नहीं थी तो क्या; संभवतः पूँछ इतनी फीकी थी कि दिखलाई नहीं पड़ती थी। इसके देखे जाने का संयोग इस प्रकार हुआ कि हरशेल ने अपने हाथ से सात इंच व्यास का दर्पणयुक्त दूरदर्शक बनाया था और इसी से वह आकाश में देखने योग्य वस्तुओं की खोज में था। जब उसे नवीन ग्रह दिखलाई पड़ा तब उसने तुरंत ताड़ लिया कि यह कोई तारा नहीं है। बात यह है कि तारे दूरदर्शक में भी बिंदु-सरीखे ही दिखलाई पड़ते हैं और यदि दूरदर्शक की प्रवर्द्धक-शक्ति बढ़ा दी जाय तो भी वे बिंदु-सरीखे ही रह जाते हैं। कारण यह है कि तारे इतनी दूर हैं कि उनका प्रत्यक्ष व्यास शून्य ही मानना पड़ता है। शून्य को हम चाहे १०० से गुणा करें, चाहे १००० से, शून्य शून्य ही रह जाता है। इसीलिए बड़े-से-बड़े दूरदर्शक में भी तारे बिंदु-से ही दिखलाई पड़ते हैं। परंतु हरशेल ने देखा कि उस पिंड में, जिसकी ओर उसका ध्यान आकर्षित हुआ था, छोटा-सा बिंब था। दूरदर्शक में अधिक शक्ति का चक्षुताल लगाने पर इसका बिंब बड़ा हो गया। इससे हरशेल को विश्वास हो गया कि अवश्य ही वह पिंड तारा नहीं था। इसका समर्थन भी कुछ ही दिनों में हो गया, क्योंकि नवीन पिंड तारों के हिसाब से स्थिर नहीं था, वह चल रहा था। इसलिए हरशेल ने अनुमान किया कि निश्चय ही यह कोई पुच्छल तारा था। परंतु जैसे-जैसे समय बीता और लोगों ने इसकी कक्षा की गणना की तैसे-तैसे संदेह बढ़ने लगा। लोगों ने देखा कि यह पुच्छल तारों की तरह लंबी कक्षा में नहीं चल रहा था। इसकी कक्षा अधिक गोल थी। अंत में लगभग एक वर्ष बाद इसकी कक्षा की पक्की गणना की जा सकी और तब, कक्षा के प्रायः गोल होने के कारण, यह बात निश्चित हो गई कि नवीन पिंड वस्तुतः ग्रह था, पुच्छल तारा नहीं।



यूरेनस ग्रह
[फ़ोटो—'लिक वेधशाला' से प्राप्त]

नवीन ग्रह के आविष्कार से स्वभावतः उस समय बड़ी सनसनी फैली। हरशेल को बड़ी ख्याति मिली। हरशेल इंगलैंड-निवासी था। उसे सर की पदवी मिली, और २०० पाउंड प्रति वर्ष के वेतन पर वह राज-ज्योतिषी बना दिया गया। हरशेल वस्तुतः जर्मन था और पहले



जर्मनी की फ़ौज में सिपाही था, परंतु चुपके से फ़ौज छोड़कर वह इंगलैंड भाग आया था और वहीं बस गया था। बहुत दुःख झेलने के बाद उसे बाथ नामक शहर के गिरजाघर में बाजा बजाने का काम मिला था और उसी पर वह निर्वाह कर रहा था। उसके साथ उसकी बहन कैरोलिन हरशेल भी थी। प्रारंभ से ही विलियम हरशेल को पढ़ने-लिखने का शौक़ था। जीवन-निर्वाह का ठिकाना लग जाने पर उसे ज्योतिष-अध्ययन का शौक़ हुआ। एक दूरदर्शक प्राप्त करने की उसकी प्रबल इच्छा हुई, परंतु उसके पास इतना धन नहीं था कि वह बाज़ार से अच्छा दूरदर्शक ख़रीद सके। इसलिए उसने स्वयं अपने हाथ से दूरदर्शक बनाने का निश्चय किया। कुछ समय में वह बाज़ार के दूरदर्शकों से बढ़िया और बड़ा दूरदर्शक बनाने में सफल हुआ। अंत में वह दो फ़ुट व्यास का दूरदर्शक बना सका। उसके पहले किसी ने कल्पना भी न की थी कि इतने बड़े दूरदर्शक बन भी सकते हैं। हरशेल बड़ा मेहनती थी। एक बार वह बराबर १६ घंटे तक दूरदर्शक के दर्पण पर पॉलिश करता रहा। उसकी बहन उसके मुख में कौर रख-रखकर उसे बीच-बीच में खिलाती रही! अपने काम में उसे इतना उत्साह था कि बाहर से आने पर अच्छे कपड़े उतारने का ध्यान ही न रहता; इसलिए, जैसा उसकी बहन ने लिखा है, उसकी कई एक आस्तीनें फट गईं या कालिख लगने से नष्ट हो गईं।

अपने राजा के नाम पर हरशेल नवीन ग्रह को 'जॉर्जीय नक्षत्र' नाम देना चाहता था, परंतु योरप के अन्य ज्योतिषी हरशेल के नाम पर इस ग्रह को हरशेल नाम देना चाहते थे। इस गड़बड़ी में प्रसिद्ध जर्मन ज्योतिषी बोडे ने नवीन ग्रह का नाम एक प्राचीन देवता के नाम पर 'यूरेनस' रख दिया। यही नाम अंत में चल निकला। हिंदी में इस ग्रह को 'वारुणी' कहते हैं।

जब ग्रह की कक्षा का ठीक पता चल गया तो पीछे की ओर गणना करने पर पता चला कि इस ग्रह को पहले लोगों ने कई बार देखा था, परंतु वे बराबर इसको साधारण तारा ही समझते रहे। लेमॉनियर नामक ज्योतिषी ने अकेले इसे बारह बार वेध किया था। यदि वह अपने वेधों की तुलना करता तो उसे अवश्य आसानी से पता चल जाता कि यह स्थिर नहीं है; अन्य तारों के हिसाब से यह चला करता है। इसलिए वह तुरंत जान जाता कि यह ग्रह है। परंतु सबके भाग्य में ख्याति नहीं लिखी रहती। इन पुरानी स्थितियों से विशेष लाभ यह हुआ कि यूरेनस की कक्षा का बहुत ही सच्चा ज्ञान ज्योतिषियों को हो गया और इस कक्षा की विचित्रता के कारण कुछ समय बाद एक अन्य नवीन ग्रह नेपच्यून का पता चला।

नाप आदि

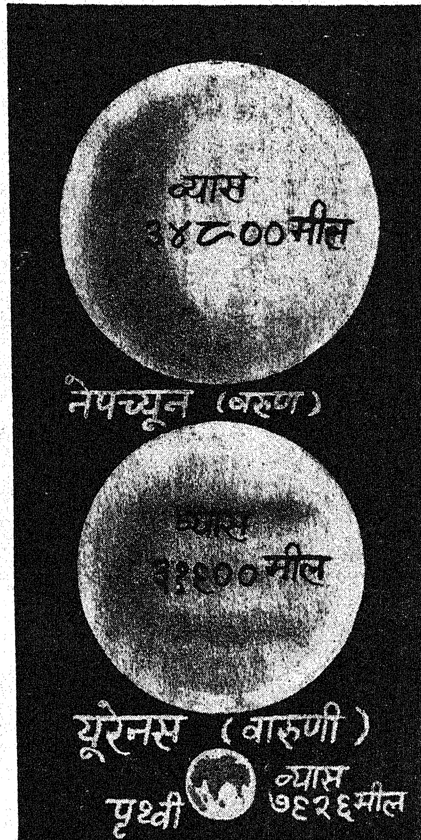
अँधेरी रात में और जब वायुमंडल स्वच्छ रहता है, तीव्र दृष्टिवाले व्यक्ति यूरेनस को कोरी आँख से ही स्पष्ट देख सकते हैं। यह अत्यंत मंद प्रकाश के तारे की तरह दिखलाई पड़ता है। पृथ्वी से इसकी दूरी के घटने-बढ़ने के कारण इसका प्रकाश इतना कम घटता-बढ़ता है कि यह प्रायः सदा ही एक ही चमक का रहता है। सूर्य से यूरेनस पृथ्वी की अपेक्षा १६ गुनी अधिक दूरी पर है और एक चक्कर लगाने में इसे ८४ वर्ष का समय लगता है। इससे यह न समझना चाहिए कि यूरेनस बहुत धीरे-धीरे चलता है। यह सवा चार मील प्रति सेकंड के वेग से बराबर दौड़ता रहता है!

बड़े दूरबीन से देखने पर यूरेनस का बिंब समुद्र के समान हरे रंग का दिखलाई पड़ता है। बिंब इतना छोटा दिखलाई पड़ता है कि इसके व्यास का ठीक-ठीक नापना कठिन है। विभिन्न ज्योतिषियों के नाप एक ही नहीं आते, परंतु उनके नापों में १० प्रतिशत से अधिक का अंतर नहीं पड़ता है। इन नापों के आधार पर पता चलता है कि यूरेनस का मध्यम व्यास पृथ्वी के व्यास का प्रायः ठीक चौगुना है। इसलिए यूरेनस का धरातल पृथ्वी की अपेक्षा १६ गुना अधिक और आयतन ६४ गुना अधिक होगा। यह देखकर कि यूरेनस शनि को अपने गणितसिद्ध मार्ग से कितना विचलित करता है, यूरेनस की तौल का हमने बहुत अच्छा ज्ञान कर लिया है। यूरेनस पृथ्वी की अपेक्षा लगभग १५ गुना ही भारी है। इसलिए यह अपेक्षाकृत हलके द्रव्यों का बना है। यह शनि की तरह पानी में तैर तो न पाएगा, परंतु पानी से कुल सवा गुना ही भारी है।

यूरेनस गोल नहीं है, अन्य ग्रहों की तरह यह भी कुछ चिपटा है। कई ज्योतिषियों ने इसे नापा है और सबके वेधों का परिणाम यही निकलता है कि छोटा व्यास बड़े व्यास की अपेक्षा लगभग ८ प्रतिशत छोटा है।

कई ज्योतिषियों ने यूरेनस के बिंब पर उसी प्रकार की धारियाँ देखी हैं जैसी बृहस्पति पर दिखलाई पड़ती हैं, परंतु ये धारियाँ इतनी फीकी हैं कि उनके बारे में कुछ विशेष बातें नहीं ज्ञात हैं। उनमें कोई ऐसे स्पष्ट चिह्न भी नहीं हैं जिससे पता चल सके कि यूरेनस अपनी धुरी पर घूमता है या नहीं, और यदि घूमता है तो कितने समय में। परंतु इस

बात का उत्तर अन्य बातों से मिला है। यूरेनस का नारंगी की तरह चिपटा होना और काफी चिपटा होना घोषित करता है कि वह काफ़ी तेज़ी से नाचता होगा। परंतु अक्ष-भ्रमण-काल का ज्ञान १९१२ के पहले न हो सका। उस वर्ष लॉवेल और उसके सहायकों ने बिंब के दाहिने और बायें भागों से आए प्रकाश के रश्मिचित्रों की तुलना करके बतलाया कि यूरेनस के एक बार घूमने में कुल पौने ग्यारह घंटे लगते हैं और वेधों में दोष रह जाने के कारण इस काल में अधिक-से-अधिक आधे घंटे की ही ग़लती हो सकती है। यूरेनस उसी दिशा में घूमता है जिस दिशा में इसके उपग्रह चलते हैं। पाँच वर्ष बाद एक बिल-कुल दूसरी रीति से यूरेनस का अक्षभ्रमण-काल नापा गया। सूक्ष्म जाँच से पता चला कि यूरेनस का प्रकाश पूर्णतया स्थिर नहीं है; यह कुछ घटा-बढ़ा करता है। प्रकाश के घटने-बढ़ने के एक चक्र में पौने ग्यारह घंटे (वस्तुतः १० घंटे ४९ मिनट) लगते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यूरेनस सर्वत्र एक ही चमक का नहीं है और यह अपनी धुरी पर लगभग पौने ग्यारह घंटे में एक बार घूमता है।



यूरेनस और नेपच्यून के आकार की पृथ्वी से तुलना

यूरेनस की परिक्षेपण-शक्ति—वास्तविक चमक—क्या है? यह काले पत्थरों की तरह प्रायः चमकरहित है या सफ़ेद बर्फ़ की तरह ख़ूब चमकीला है? इन प्रश्नों का भी उत्तर गणना और वेध से मिल गया है। पता चला है कि यूरेनस पर भी बृहस्पति और शनि की तरह ठंढी गैसों का गहरा वायुमंडल होगा। सूर्य से बहुत दूर होने के कारण यूरेनस पर बृहस्पति की अपेक्षा धूप की तेज़ी कुल चौदहवाँ भाग ही होगी। इसलिए यूरेनस बृहस्पति और शनि से कहीं अधिक ठंढा होगा। परंतु मोटे हिसाब से कहा जा सकता है कि यूरेनस की भी बनावट बृहस्पति और शनि जैसी-ही होगी। संभवतः केंद्र में पत्थर होगा, उस पर बर्फ़ की गहरी तह होगी। फिर जमी हुई गैस होंगी। ऊपर गैस के बादल होंगे। यूरेनस के हरे रंग और इसके प्रकाश के रश्मि-चित्र से अनुमान किया जाता है कि इन बादलों के ऊपर दूर तक पारदर्शक गैसें होंगी जो हरी दिखलाई पड़ती हैं। गैसों का यह वायुमंडल गहरा और घना होगा।

उपग्रह

यूरेनस के चार उपग्रह हैं। इनमें से दो बड़े उपग्रहों का पता तो ग्रह के आविष्कार के कुछ ही वर्षों के बाद स्वयं हरशेल को लगा। शेष दो का पता ७० वर्ष बाद लैसल को लगा। लैसल शराब बनाने का काम करता था, परंतु उसे ज्योतिष का शौक़ था। धनाभाव के कारण वह भी स्वयं अपने हाथ से दूरदर्शक बनाया करता था। अंत में एक अन्य व्यक्ति की सहायता से उसने २४ इंच व्यास का बहुत बढ़िया दर्पणयुक्त दूरदर्शक बनाया। इसी से उसने यूरेनस के दो नये उप-ग्रहों का पता लगाया।

ये उपग्रह बहुत छोटे हैं और वे केवल बहुत बड़े दूर-दर्शक से ही देखे जा सकते हैं। परंतु उनकी वास्तविक नाप इतनी छोटी नहीं है। अनुमान किया जाता है कि सबसे बड़े उपग्रह का व्यास लगभग १००० मील होगा, सबसे छोटे का लगभग ४०० मील। सभी उपग्रह यूरेनस की मध्यरेखा के धरातल में चलते हैं।

इन उपग्रहों के संबंध में सबसे विचित्र बात यह है कि इनकी कक्षाओं का धरातल यूरेनस के मार्ग के धरातल से प्रायः समकोण बनाता है। पृथ्वी स्वयं प्रायः सदा यूरेनस के मार्ग के धरातल में रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि कभी-कभी पृथ्वी यूरेनस के अक्ष की सीध में आ जाती है और तब हमें इन उपग्रहों की कक्षाएँ प्रायः ठीक वृत्ताकार (गोल) दिखलाई पड़ती हैं। उस समय

यूरेनस का ध्रुव उसके बिंब के प्रायः ठीक बीच में दिखलाई पड़ता है और यूरेनस हमें चिपटा नहीं, सच्चा गोल दिखलाई पड़ता है। स्वभावतः एक समय ऐसा भी आता है जब पृथ्वी यूरेनस के अक्ष से अभिलंब दिशा (समकोण बनाती हुई दिशा) में रहती है। ऐन अवसर पर यूरेनस का बिंब हमें चिपटा दिखलाई पड़ता है। शुद्ध माप जानने के लिए यूरेनस का चिपटापन ऐसे ही समय नापा जाता है। किसी भी अन्य ग्रह में ऐसा नहीं होता कि कभी हम उसे चिपटा देखें और कभी गोल।

नेपच्यून का आविष्कार

नेपच्यून का आविष्कार गणित-ज्योतिष का एक अद्भुत चमत्कार है। यूरेनस अपने गणितसिद्ध मार्ग पर चल रहा था। इसी से ज्योतिषियों को संदेह हुआ कि संभवतः उसके उस पार कोई अज्ञात ग्रह है जिसकी खींचातानी के कारण यूरेनस अपने मार्ग से विचलित हो जाता है। इस सिद्धांत पर गणना करके एक ज्योतिषी ने लिखा कि यदि आकाश के अमुक बिंदु पर दूरदर्शक साधा जाय तो यह ग्रह दिखलाई पड़ेगा और वस्तुतः वहीं पर नवीन ग्रह मिला।

१८२० में फ्रेंच ज्योतिषी बूवार्ड (Bouvard) ने बृहस्पति, शनि और यूरेनस की नई सारिणियाँ बनाईं। उसने देखा कि बृहस्पति और शनि तो न्यूटन के आकर्षण-सिद्धांतानुसार ही चलते थे, परंतु यूरेनस के बारे में कठिनाई थी। यूरेनस के आविष्कार के पहले और पीछेवाले सभी बेधों को ध्यान में रखकर जब कक्षा की गणना की गई तो पता चला कि कोई भी ऐसी कक्षा नहीं है जो सब बेधों के अनुकूल हो। यदि पुराने बेधों के अनुसार कक्षा निर्धारित की जाती थी तो यूरेनस की नवीन बेधानुसार प्राप्त स्थितियाँ गणित-सिद्ध स्थितियों से भिन्न पड़ती थीं। इसी प्रकार यदि केवल नवीन स्थितियों के आधार पर कक्षा की गणना की जाती थी तो पुरानी स्थितियों में अंतर पड़ता था। बूवार्ड ने समझा कि संभवतः पुराने बेधों में कुछ त्रुटियाँ रही होंगी। इसलिए उसने पुराने बेधों को छोड़ दिया और केवल नवीन बेधों के आधार पर यूरेनस की कक्षा की गणना की।

परंतु थोड़े ही वर्षों में देखा गया कि यूरेनस बूवार्ड की बतलाई कक्षा से विचलित हो रहा है। अंतर धीरे-धीरे बढ़ता ही गया। पचीस वर्ष में अंतर इतना पड़ गया कि किसी को संदेह नहीं रहा कि बूवार्ड की कक्षा शुद्ध नहीं है। यों तो अंतर कुछ विशेष अधिक नहीं था। यदि आकाश में एक दूसरा यूरेनस भी होता और वह बराबर बूवार्ड की गणितसिद्ध कक्षा में चलता तो कोरी आँख से इन दोनों को पृथक्-पृथक् नहीं देखा जा सकता। हाँ, दूरदर्शक की सहायता से ये अवश्य आसानी से अलग-अलग देखे जा सकते थे। परंतु बड़ी बात तो यह थी कि जो अंतर पड़ रहा था वह किसी ज्ञात कारण से नहीं पड़ रहा था और तो भी यह अंतर इतना था कि निश्चय रूप से कहा जा सकता था कि यह बेधों की त्रुटियों के कारण नहीं उत्पन्न हुआ था! इस विषय पर ज्योतिषियों में वाद-विवाद होता रहा, परंतु १८४५ तक निश्चय रूप से कुछ भी निश्चित नहीं हो पाया था।

उस वर्ष ऐरागो के कहने पर लेवेरियर (Leverrier) ने इस प्रश्न पर जड़ से छानबीन करना आरंभ किया। वह अच्छा ज्योतिषी और सिद्धहस्त गणितज्ञ था। पहले उसने बूवार्ड के काम को अधिक सूक्ष्म रीतियों से दोहराया। परंतु उसे बूवार्ड की सारिणी में केवल छोटी-छोटी ही त्रुटियाँ मिलीं। कोई भी ऐसी त्रुटि न मिली जो यूरेनस की विचित्र गति का रहस्य बतला सके।

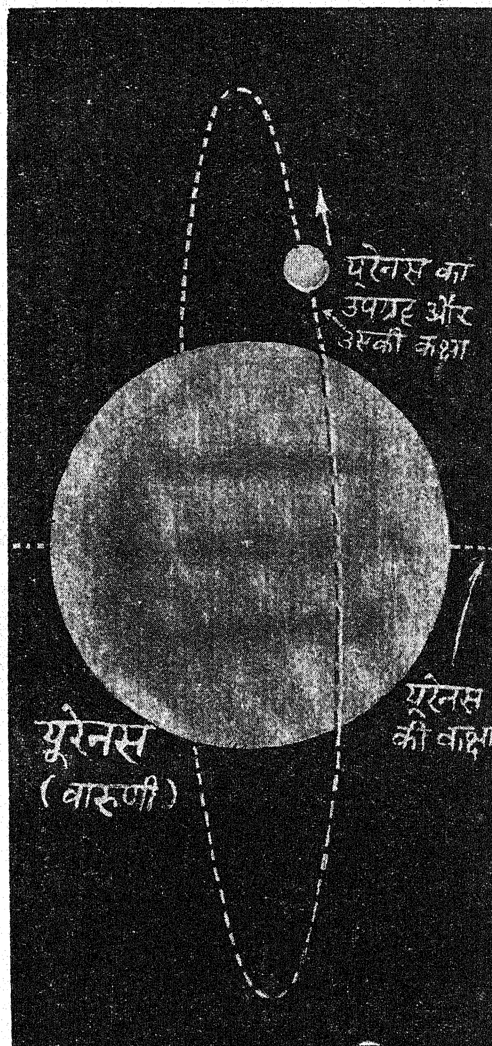
बूवार्ड ने यूरेनस पर पड़नेवाली शनि और बृहस्पति की आकर्षण-शक्तियों को भी गणना में सम्मिलित कर लिया था। यही उचित था। परंतु मरता क्या न करता! लेवेरियर ने बृहस्पति और शनि की आकर्षण-शक्तियों को छोड़कर भी यूरेनस की कक्षा निकाल डाली—इस आशा से कि कदाचित् इस प्रकार प्राप्त कक्षा अधिक अनुकूल हो। परंतु यह कक्षा भी ठीक नहीं उतरी।

अब केवल यही देखना बाक़ी था कि यूरेनस के उस पार कोई ग्रह तो नहीं है जो अपनी आकर्षण-शक्ति के कारण यूरेनस को खींचा करता है और यदि ऐसा ग्रह है तो वह कहाँ और कितना बड़ा होगा। यह जानी हुई बात है कि कोई ग्रह सूर्य से जितना ही अधिक दूरी पर होगा वह एक चक्कर उतना ही अधिक समय में लगाएगा। परिणाम यह होगा कि जब तक यूरेनस आधा चक्कर लगाएगा तब तक उस पारवाला ग्रह कदाचित् चौथाई ही चक्कर लगा पाएगा। इस प्रकार यदि यूरेनस के आधा चक्कर लगाने के आरंभ में यह ग्रह यूरेनस को अपनी ओर खींचकर उसके वेग को बढ़ा रहा था तो निश्चय ही यूरेनस के आधा चक्कर लगा लेने पर यह ग्रह यूरेनस को अपनी ओर खींचकर उसके वेग को कम कर देगा। इसलिए अवश्य ही इस ग्रह की अवहेलना करके निकाली गई कक्षा वास्तविक परिस्थिति को सच्चाई से प्रदर्शित न कर सकेगी।

यह भी निश्चय था कि अज्ञात ग्रह यूरेनस के इस पार नहीं था। यदि वह इधर होता तो अवश्य ही वह शनि को भी अपने मार्ग से काफ़ी विचलित कर देता।

गणना करने के पहले यह जानना आवश्यक था कि अज्ञात ग्रह सूर्य से कितनी दूर था। भिन्न-भिन्न दूरी मानकर भिन्न-भिन्न उत्तर निकल सकते थे। लेवेरियर ने अनुमान किया कि अवश्य ही नेपच्यून की दूरी बोडे के नियम के अनुसार होगी, क्योंकि सब ज्ञात ग्रहों की दूरियाँ इसी नियम के अनुसार थीं। सितंबर १८४६ में गणना समाप्त हुई। लेवेरियर के पास ग्रह के देखने के लिए कोई साधन नहीं था। इसलिए उसने अपने मित्र गाले को, जो बरलिन बेधशाला का नवयुवक अध्यक्ष था, लिखा कि कुंभ राशि में, वसंत संपात से ३२६ डिगरी पर और सूर्य के मार्ग के पास, अज्ञात ग्रह होगा; इस बिंदु से नवीन ग्रह एक डिगरी के भीतर ही होगा। चमक में यह नवीं श्रेणी के तारे के समान होगा, परंतु इसका बिंब स्पष्ट दिखलाई पड़ेगा—यह तारों के समान बिंदु-सरीखा न होगा।

२३ सितम्बर १८४६ की रात्रि में यह ग्रह बरलिन में देखा गया। इसकी स्थिति लेवेरियर के बतलाये स्थान के पास ही थी। खोज में आधा घंटा भी नहीं लगा। ग्रहों के समान इसे बिंब भी था और नक्षत्रों के नक़्शे में यह नहीं था। इससे निश्चय था कि यह नवीन ग्रह था। तो भी सूक्ष्मता से इसकी स्थिति नाप ली गई। दूसरी रात फिर नापने पर पता चला कि यह बतलाई हुई दिशा में चल भी रहा था। अब नाम मात्र भी संदेह नहीं रह गया। सर्वत्र समाचार फैल गया कि नवीन ग्रह देखा गया है।



यूरेनस इस बात में अन्य सब ग्रहों से निराला है कि उसके उपग्रहों की कक्षाओं का धरातल स्वयं उसके मार्ग के धरातल से प्रायः समकोण बनाता है।

नवीन ग्रह के आविष्कार का यश केवल लेवेरियर को ही नहीं मिला। इंगलैण्ड में केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एक नये ग्रेजुएट जे० सी० ऐडम्स ने भी इसी प्रश्न की जाँच की थी। १८४१ में ही उसने संकल्प किया था कि डिगरी मिल जाने के बाद वह गणित द्वारा पता लगाएगा कि यदि यूरेनस के चलने की विचित्रता किसी अज्ञात ग्रह के कारण है तो वह अज्ञात ग्रह कहाँ होगा। इंगलैण्ड के राज-ज्योतिषी की एक रिपोर्ट में इस अज्ञात ग्रह के रहने की बात उसने पढ़ी थी। १८४३ की गरमी की छुट्टी में ही उसने मोटे हिसाब से पता चला लिया कि अज्ञात ग्रह कहाँ होगा। फिर १८४५ तक उसने सूक्ष्म गणना भी कर डाली। केम्ब्रिज के प्रोफ़ेसर चैलिस की सलाह से वह राज-ज्योतिषी एअरी से भेंट करने ग्रिनिच (लंदन) गया। संयोगवश एअरी वहाँ उस समय नहीं था। कुछ समय पीछे ऐडम्स फिर एअरी से मिलने गया, परन्तु इस बार भी वह एअरी से मुलाक़ात नहीं कर सका, क्योंकि एअरी भोजन कर रहा था। प्रतीक्षा करने के बदले ऐडम्स एक पुरज़ा लिखकर चला आया कि अमुक स्थान में नया ग्रह दिखलाई पड़ेगा। पीछे पता चला कि ऐडम्स की गणना लेवेरियर की गणना से अधिक सच्ची थी। यदि नवीन ग्रह की खोज बतलाई हुई दिशा में अच्छे दूरदर्शक से की जाती तो ग्रह उसी दिन मिल जाता और इसके आविष्कार

का पूरा यश ऐडम्स को मिलता, क्योंकि लेवेरियर की गणना अभी नहीं हो पाई थी। परन्तु ऐडम्स कोई प्रसिद्ध ज्योतिषी नहीं था। राज-ज्योतिषी ने ऐडम्स को केवल इतना ही लिख भेजा कि क्या आपने सूर्य से यूरेनस की दूरी में जो अंतर पड़ा करता है उस पर भी ध्यान दिया है? ऐडम्स ने या तो झल्लाकर या अन्य किसी कारण से इस पत्र का उत्तर नहीं दिया। राज-ज्योतिषी भी इस प्रसंग को भूल गया। इस प्रकार एक वर्ष बीत गया।

एअरी की निद्रा अब भंग हुई, क्योंकि उसने देखा कि लेवेरियर ने इस विषय पर जो पर्चे इस समय छापे उनका भी अन्तिम उत्तर वैसा ही निकलेगा जैसा ऐडम्स का। इसलिए उसने तुरन्त केम्ब्रिज के प्रोफ़ेसर चैलिस को नवीन ग्रह की खोज सुपुर्द की। इस पर विश्वास न करके कि नवीन ग्रह अपने बिम्ब के कारण पहचाना जा सकेगा, उसने आस-पास के सब तारों की स्थितियाँ नापना आरम्भ किया। जिस समय गाले ने नवीन ग्रह के देखने की घोषणा की उस समय तक चैलिस वस्तुतः दो बार नवीन ग्रह का बेध कर चुका था। यदि वह बेधों की तुलना करता चलता तो वह गाले के कई सप्ताह पहले ही नवीन ग्रह के पा जाने की घोषणा कर सकता। परन्तु इस काम को वह इतना आवश्यक कदाचित् नहीं समझता था। उसने सोच रक्खा था कि काफ़ी बेध ले लेने के बाद एक साथ ही सब की तुलना करेंगे। सम्भव है, ऐडम्स की योग्यता में उसे काफ़ी विश्वास न रहा हो। जो कुछ हो, हुआ यही कि गाले की घोषणा तक ब्रिटिश ज्योतिषियों को नवीन ग्रह का पता न चल सका। उसके बाद एअरी और चैलिस ने देखा कि ऐडम्स की गणना अधिक शुद्ध थी और केवल उन्हीं की लापरवाही के कारण नवीन ग्रह के आविष्कार का यश लेवेरियर को मिला।

तब एअरी ने अपनी भूल का प्रायश्चित्त करना चाहा। उसने बड़े ज़ोरों से लिखना आरंभ किया कि ऐडम्स की गणना पहले हो चुकी थी और वह अधिक शुद्ध थी, इसलिए उसी को ग्रह का आविष्कारक समझना चाहिए। बड़ी बहस चली और स्वभावतः लोगों के मिज़ाज गरम हो गए। लेवेरियर के मित्र समझते थे कि अंग्रेज़ों की यह एक चाल है, जिससे फ्रांस को नये ग्रह के आविष्कार का यश न मिले। ऐडम्स के मित्र अलग एअरी से अप्रसन्न थे, उन्होंने उसको ख़ूब खरी-खोटी बातें सुनाईं। यों तो विज्ञान में आविष्कारकर्ता वही समझा जाता है जिसका आविष्कार प्रथम प्रकाशित होता है; अपने घर किसी ने किस दिन किस काम को किया इस पर विचार नहीं किया जाता। परन्तु यह देखते हुए कि इसमें ऐडम्स का कोई दोष नहीं था अब विज्ञान-संसार यही मानता है कि लेवेरियर और ऐडम्स दोनों को ही नेपच्यून का आविष्कारक समझना चाहिए।

कुछ सप्ताह तक बेध करने पर नेपच्यून की कक्षा का स्थूल रूप से ज्ञान हो गया। तब पीछे मुँह गणना करने पर पता चला कि इस ग्रह को कई ज्योतिषियों ने पहले भी देखा था और इसे तारा समझकर इसकी स्थिति को नक्षत्र-सूचियों में लिखा था। प्रसिद्ध फ्रेंच ज्योतिषी लैलांड (Lalande) ने पचास वर्ष पहले इसे दो बार, दो दिनों के अंतर पर, देखा था। इतने में, ग्रह होने के कारण, यह कुछ हट गया था। यदि लैलांड को ज़रा-सा भी ख़याल होता कि आकाश में अज्ञात ग्रह भी हो सकते थे तो वह तुरंत जान जाता कि यह वस्तुतः ग्रह था। परन्तु उसे इसका कुछ भी संदेह नहीं था। उसने समझा कि संभवतः प्रथम बार उसने भूल की थी। इसलिए अपनी प्रकाशित नक्षत्र-सूची में उसने इस "तारे" के आगे केवल प्रश्न-चिह्न लगाकर ही संतोष कर लिया। प्रश्न-चिह्न का असली कारण उसकी अप्रकाशित नोटबुक से तब लगा जब नेपच्यून का आविष्कार हो चुका था।

पुराने और नवीन बेधों के सहारे नेपच्यून की कक्षा का सूक्ष्म ज्ञान शीघ्र हो गया। तब पता चला कि इसकी सूर्य से दूरी बोडे के नियम के अनुसार नहीं थी (देखो विश्वभारती, पृष्ठ१२६३)। लेवेरियर और ऐडम्स दोनों ने जो कक्षा नेपच्यून के लिए अपनी-अपनी गणनाओं से निर्धारित की थी वह ग़लत थी, क्योंकि दोनों ने इसकी दूरी के लिए बोडे के नियम को सत्य माना था। इनकी बतलाई कक्षाएँ इतनी अशुद्ध थीं कि उस समय के कुछ ज्योतिषियों का विश्वास था कि नवीन ग्रह का पता संयोगवश ही लग गया, गणना के कारण नहीं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। जिस रीति से और यूरेनस के जिन बेधों के आधार पर नवीन ग्रह की गणना की गई थी उनसे केवल नवीन ग्रह की स्थिति का ही सच्चा पता लग सकता था; नवीन ग्रह की कक्षा का ठीक पता इनसे न लग सकता था। इसलिए यदि कक्षा की गणना में भद्दी भूल भी हुई तो क्या! कक्षा की त्रुटियों का परिणाम केवल यही हो सकता था कि भूत और भविष्य काल में नवीन ग्रह की स्थितियों का ज्ञान लेवेरियर और ऐडम्स की गणनाओं से नहीं हो सकता था; परन्तु उस समय

जब गणना की गई थी, नवीन ग्रह की स्थिति ठीक-ठीक बतलाई गई थी और ग्रह के आविष्कार के लिए बस इतना ही काफ़ी था।

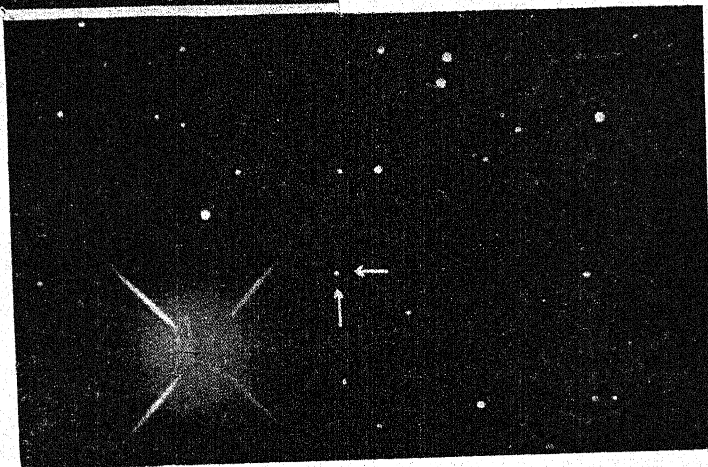
नेपच्यून की कक्षा आदि

पृथ्वी की अपेक्षा नेपच्यून सूर्य से तीस गुना अधिक दूरी पर है। इसकी कक्षा प्रायः ठीक-ठीक गोल है। एक बार चक्कर लगाने में इस ग्रह को लगभग १६५ वर्ष लगते हैं, हैं। सातवीं और आठवीं श्रेणी के तारे केवल दूरदर्शक से ही दिखलाई पड़ते हैं।

बड़े दूरदर्शकों में नेपच्यून का बिम्ब स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। यह हरे रंग का है। छोटा दिखलाई पड़ने के कारण इसके बिम्ब के व्यास का नापना अत्यंत कठिन है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि इसका वास्तविक व्यास लगभग ३१००० मील होगा। इस प्रकार नेपच्यून यूरेनस से थोड़ा-सा ही छोटा है।

यद्यपि व्यास की नाप बहुत सूक्ष्मता से नहीं ज्ञात है तो भी इसकी तौल का हमें अच्छा ज्ञान है। कारण यह है कि इसकी तौल इसके उपग्रह की गति से और यूरेनस को विचलित करने की मात्रा से निकाली गई है। नेपच्यून पृथ्वी से लगभग १७ गुना (वस्तुतः १७·१६ गुना) भारी है। इस प्रकार यह यूरेनस की अपेक्षा कुछ अधिक भारी है। पानी के हिसाब से इसका घनत्व १·६ गुना है।





प्लूटो का आविष्कार लॉवेल वेधशाला में लिये गए इन फ़ोटोग्राफ़ों द्वारा हुआ था। ऊपर के फ़ोटो में मार्च २, १६३०, को आकाश में प्लूटो की स्थिति तीर के निशान द्वारा दिखाई गई है। तीन दिन बाद मार्च ५ को वही छोटा-सा बिंदु उस स्थान में खिसक आया जो नीचे के फ़ोटो में तीरों द्वारा दिखाया गया है। अन्य सभी पिण्ड, जो तारे हैं, ज्यों-के-त्यों वहीं थे। केवल यही एक बिंदु खिसका था, इससे सिद्ध हो गया कि यह ग्रह था।

यद्यपि इसका वेग लगभग ३$\frac{1}{3}$ मील प्रति सेकंड है। कोरी आँख से नेपच्यून नहीं देखा जा सकता, परन्तु किसी भी अच्छे छोटे दूरदर्शक से यह देखा जा सकता है। छोटे दूरदर्शकों में यह आठवीं श्रेणी के तारे के समान दिखलाई पड़ता है। स्मरण रखना चाहिए कि जितने तारे हमें कोरी आँख से दिखलाई पड़ते हैं वे सब ६ श्रेणियों में बाँटे गए हैं। प्रथम श्रेणी के तारे सबसे अधिक चमकीले होते हैं। छठवीं श्रेणी के तारे सबसे मंद प्रकाश के होते

नेपच्यून का तापक्रम बहुत ही कम होगा। इसका वायुमंडल किसी ऐसी यौगिक गैस का होगा जो पृथ्वी के साधारण तापक्रम पर टिक ही नहीं सकती। संभवतः यही बात है जिसके कारण हम अभी तक ठीक-ठीक नहीं जान सके हैं कि बृहस्पति, शनि, यूरेनस और नेपच्यून में वह कौन-सी गैस है जिसकी मात्रा बृहस्पति से लेकर नेपच्यून तक उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और जिसके कारण इन ग्रहों से उत्तरोत्तर अधिक हरा प्रकाश आता है। हाल के कुछ अनु-

संधानों से अनुमान किया जाता है कि बृहस्पति और शनि के वायुमंडलों में मिथेन और अमोनिया गैसों की प्रधानता होगी।

नेपच्यून के बिंब पर कोई भी ऐसे चिह्न नहीं देखे जा सके हैं जिनसे इसके अपनी धुरी पर घूमने के बारे में कुछ निश्चय किया जा सके। नेपच्यून और यूरेनस में कई बातों में सादृश्य है। नाप में, तौल में, घनत्व में, रंग में ये प्रायः एक-से हैं। निस्संदेह उनकी रासायनिक बनावट भी प्रायः एक-सी होगी, इसलिए ये यमज भ्राता कहे जा सकते हैं। सौर जगत् में इस प्रकार की दूसरी जोड़ी शुक्र और पृथ्वी की है, परन्तु शुक्र और पृथ्वी में इतनी समानता नहीं है।

नेपच्यून के एक उपग्रह है। इसे पहले-पहल लैसल ने, प्रधान ग्रह के देखे जाने के एक महीने भीतर ही, देखा। यह उपग्रह एक चक्कर लगभग ६ दिन में ही लगा लेता है। देखने में यह बहुत ही मंद प्रकाश का है, परंतु जब उसके वास्तविक नाप की गणना की जाती है तब पता चलता है कि यह लगभग हमारे चंद्रमा के बराबर होगा। केवल बहुत दूर होने के कारण ही यह इतना फीका लगता है।

जिस धरातल में यह उपग्रह चलता है वह स्वयं घूम रहा है। गति-विज्ञान के आधार पर इससे यह परिणाम निकलता है कि नेपच्यून गेंद की तरह गोल न होकर नारंगी की तरह चिपटा होगा। इस प्रकार, यद्यपि नेपच्यून हमसे इतनी दूर है कि हम उसके रूप को ठीक-ठीक नहीं देख पाते, हम जानते हैं कि वह भी यूरेनस की तरह चिपटा है। १९२८ में रश्मि-विश्लेषक यंत्र से पता चला कि नेपच्यून अपनी धुरी पर लगभग १६ घंटे में एक बार घूम लेता है।

प्लूटो

मार्च १९३० में नेपच्यून से भी अधिक दूरी पर स्थित एक ग्रह देखा गया, जिसका नाम प्लूटो रक्खा गया। इसका आविष्कार कोई संयोगवश नहीं हुआ। ऐसे ग्रह की खोज वर्षों से की जा रही थी। कई एक ज्योतिषियों ने इसकी स्थिति बतलाने की चेष्टा उसी रीति से की थी जिस रीति से नेपच्यून का आविष्कार हुआ था, परंतु इसमें कठिनाई यह थी कि नेपच्यून की कक्षा का ज्ञान अब भी हमको इतना अच्छा नहीं है जितना होना चाहिए। इसका कारण यह है कि आविष्कार से लेकर आज तक नेपच्यून कुल आधा के ही लगभग चक्कर लगा पाया है। जब तक नेपच्यून पूरा चक्कर न लगा ले तब तक इसकी कक्षा की सूक्ष्म गणना नहीं की जा सकती। इसलिए पता नहीं चलता कि नेपच्यून गणितसिद्ध कक्षा से कितना विचलित होता है।

परंतु यूरेनस की कक्षा का सूक्ष्म ज्ञान १९३० के कई वर्ष पहले से ही था। देखा गया था कि नेपच्यून की आकर्षण-शक्ति की गणना कर लेने पर भी यूरेनस की वास्तविक और गणितसिद्ध चालों में थोड़ा-सा अन्तर रह जाता था। इसी के आधार पर गैलियो, पिकरिंग, लॉवेल आदि की धारणा थी कि नेपच्यून के उस पार कोई ग्रह है जो नेपच्यून से ड्योढ़ी दूरी पर है। लॉवेल की गणना से ही अंत में प्लूटो का आविष्कार हुआ, परंतु लॉवेल की गणना का परिणाम यह निकला था कि नेपच्यून के उस पारवाला ग्रह तौल में नेपच्यून का लगभग आधा होगा। इससे अनुमान किया गया कि अज्ञात ग्रह इतना छोटा न होगा कि इसके फोटोग्राफ़ लेने में विशेष कठिनाई पड़े। इसलिए लोगों को आश्चर्य हो रहा था कि इस ग्रह के पता लगाने में इतनी कठिनाई क्यों पड़ रही थी।

लॉवेल को ग्रह-संबंधी खोजों से इतना प्रेम था कि उसने अपने ख़र्च से ऊँचे और बहुत ही अच्छे स्थान पर अच्छी-सी बेधशाला बनवाई थी और इस अभिप्राय से कि उसके मरने के बाद भी खोज होती रहे, वह काफ़ी धन भी इसके लिए छोड़ गया। लॉवेल के सहायक लॉवेल के मरने पर ग्रह-संबंधी अनुसंधानों में तत्परता से लगे रहे और अंत में मार्च १९३० में नेपच्यून के उस पारवाले ग्रह को देख ही लिया। यह ग्रह लॉवेल के गणनानुसार प्राप्त स्थान के बहुत पास ही मिला। मरने के दो वर्ष पहले लॉवेल इस ग्रह की स्थिति की गणना कर चुका था।

प्लूटो का रूप

प्लूटो को हिंदी में 'यम' कहते हैं। यह ग्रह बड़े दूरदर्शकों में भी बिंदु-सरीखा ही दिखलाई पड़ता है। इसलिए इसके गोल या चिपटे होने की बात का पता नहीं। इसकी कक्षा का भी विशेष ज्ञान नहीं है। अत्यन्त दूर होने और इसलिए मंद गति से चलने के कारण इसकी कक्षा का ठीक पता वर्षों बाद लगेगा।

नेपच्यून की अपेक्षा प्लूटो हज़ार गुना कम चमक का है। तीस इंच के तालयुक्त दूरदर्शक से भी फ़ोटो लेने के लिए आध घंटे से कम प्रकाश-दर्शन (एक्सपोज़र) से काम नहीं चलता। इसके कोई उपग्रह अभी तक नहीं देखे गए हैं। यदि कोई उपग्रह होगा भी तो वह संसार के बड़े-से-बड़े दो-चार दूरदर्शकों में ही दिखलाई पड़ सकेगा।

नाप में यह बहुत छोटा होगा। यदि लॉवेल की गणनानुसार इसकी तौल नेपच्यून की तौल की लगभग आधी होती तो यह हमें बारहवीं श्रेणी के तारे की तरह दिखलाई पड़ता। परंतु वस्तुतः यह हमें पंद्रहवी श्रेणी के तारे की

तरह दिखलाई पड़ता है, अर्थात् वास्तविक चमक लॉवेल की गणना के अनुसार निकली चमक के हिसाब से रुपये में एक आना भी नहीं है। यही कारण है कि इसके दिखलाई पड़ने में इतना समय लगा।

प्लूटो की तौल की गणना हाल में फिर से की गई है और पता चला है कि इसकी तौल लगभग शुक्र की तौल के बराबर है। यह बड़ी आश्चर्यजनक बात है, क्योंकि प्लूटो इतना फीका है कि लोग समझते थे कि इसकी तौल बहुत कम होगी। तीन ही बातें हो सकती हैं--या तो तौल की गणना में कहीं ग़लती हो, या प्लूटो बहुत घना हो और इसलिए अधिक तौल का होते हुए भी यह बहुत छोटा हो, या वह वस्तुतः चमकरहित, प्रायः काले पत्थर का हो। इनमें से पहली बात का कोई विशेष भय नहीं है। ज्योतिषियों का अनुमान है कि तौल की नवीन गणना में आठ-दस प्रतिशत से अधिक भूल कदापि न हुई होगी। इसी प्रकार दूसरी बात भी लागू नहीं जान पड़ती। अधिक-से-अधिक प्लूटो हमारी पृथ्वी के केंद्र के घनत्व का होगा, जहाँ धातुओं की ही मात्रा अधिक है। यदि प्लूटो इतना भी घना हुआ तो भी इसे काफ़ी चमकीला होना चाहिए था। परंतु वस्तुतः, यदि प्लूटो को शुक्र के घनत्व का मान लिया जाय तो इसकी सतह की चमक शुक्र की सतह की चमक का पंद्रहवा भाग भी न ठहरेगी।

इस प्रकार हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्लूटो की सतह चमकरहित काले पत्थर के समान है। परंतु इस संबंध में एक बात यह समझ में नहीं आती कि प्लूटो का वायुमण्डल कहाँ गया। जब इसकी तौल शुक्र के समान है और फिर यह शुक्र से कहीं अधिक ठंढा भी है तो अवश्य इसके वायुमण्डल को उड़ न जाना चाहिए था। परंतु यदि इस पर अब भी वायुमण्डल है तो अवश्य इसे, अपने वायुमण्डल के कारण, काले पत्थर से अधिक चमकीला होना चाहिए था। संभव है, निकट भविष्य में इस रहस्य का भेद खुल जाय।



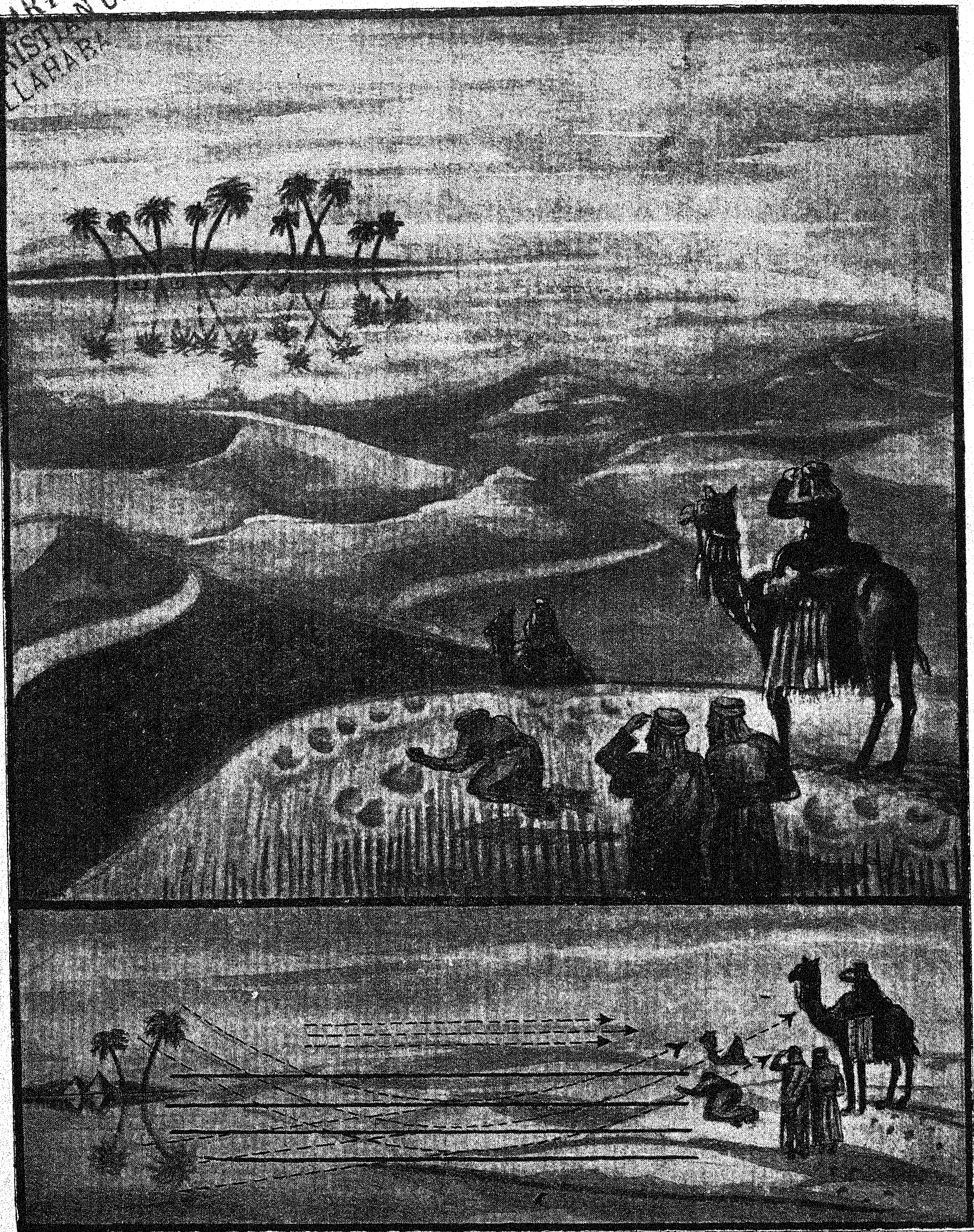
लावेल की गणना के आधार पर प्लूटो का आविष्कार करनेवाला—टाम्बाग

प्लूटो के एक चक्कर में लगभग ३०० वर्ष का समय लगता होगा। शनि की पदवी अब छिन जानी चाहिए। यथार्थ में, प्लूटो ही शनैश्चर—शनैः शनैः चलनेवाला—है।

प्लूटो पर

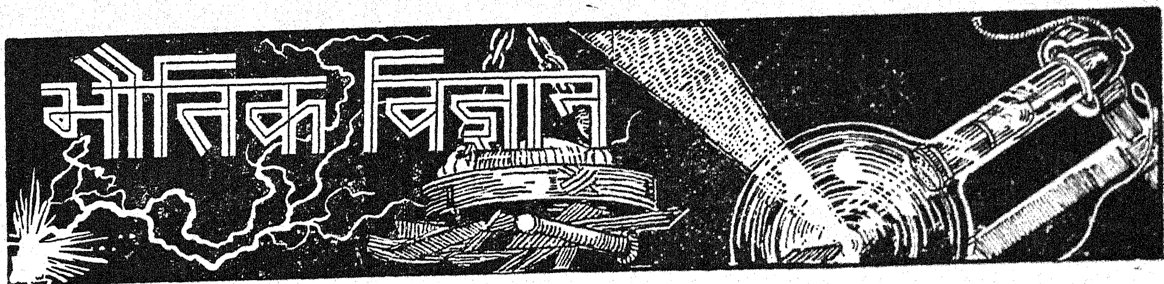
प्लूटो पर कल्पनातीत सरदी पड़ती होगी। यदि पृथ्वी उस ग्रह की दूरी पर रख दी जाय तो हमारा वायुमंडल जमकर ठोस हो जायगा और सब जीव—चर और अचर—नष्ट हो जायँगे। वहाँ से सूर्य केवल उतना ही बड़ा दिखलाई पड़ता होगा जितना पृथ्वी को बृहस्पति दिखाई पड़ता है, परंतु सूर्य कहीं अधिक चमकीला जान पड़ता होगा। कम रोशनी की शिकायत वहाँ न होगी। दोपहर की धूप में वहाँ हमारी पूर्णिमा की रात्रि से ३०० गुना अधिक प्रकाश रहता होगा। या यों कहिए कि वहाँ की धूप में उतनी ही रोशनी रहती होगी जितनी १००० मोमबत्ती की ताक़तवाली बिजली-बत्ती को १५ फ़ुट पर रखने से हमें मिलती है। परंतु गरमी वहाँ नाम-मात्र ही पहुँच पाती होगी। वस्तुतः प्लूटो पर पृथ्वी की अपेक्षा गरमी और रोशनी एक ही अनुपात में कम पहुँचती होगी। अनुमान किया जाता है कि मंगल के समान ठंढे स्थान में मनुष्य का जीवित रहना कठिन है; बृहस्पति के समान ठंढे स्थान में मनुष्य का रहना असंभव है; और उसके पारवाले ग्रहों पर तो किसी भी जीव का रहना कल्पना के परे है।

पृथ्वी पर बैठे-बैठे हम बुध से लेकर प्लूटो तक के सभी ग्रहों को देख सकते हैं, परंतु यदि हम अपने दूरदर्शकों को लेकर प्लूटो तक जा सकें—और वहाँ जीवित रह सकें!—तो वहाँ केवल बृहस्पति और शनि ही हमें कोरी आँख से दिखलाई पड़ेंगे, बृहस्पति मंद तारे की तरह और शनि मंद-से-मंद तारे की तरह। शुक्र और पृथ्वी दोनों यों तो शनि से कुछ अधिक चमकदार रहेंगे, परंतु सूर्य से सटे रहने के कारण दूरदर्शक से उनका दिखलाई पड़ना कठिन होगा। बुध का देखना तो एकदम असंभव होगा।



मरुभूमि में दिखाई पड़नेवाली मरीचिका या मृगतृष्णा का दृश्य

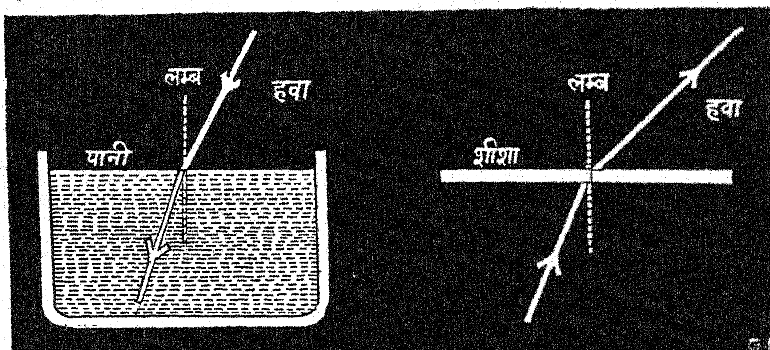
रेगिस्तानों में प्रायः दोपहर के समय कभी-कभी दूर दिखाई पड़नेवाले वृक्षों की ऐसी परछाईं-सी दिखाई देने लगती है, जिससे दर्शक को वहाँ पर जल होने का भ्रम हो जाता है, जब कि वास्तव में वहाँ जल का नामोनिशान भी नहीं होता। यह आलोक-रश्मियों के आवर्त्तन के कारण ही होता है, जैसा कि नीचे के मानचित्र में समझाया गया है। वृक्षों से आनेवाली किरणें ऊपर की सघन वायु से नीचे की विरल वायु में आने के कारण आवर्त्तित होकर दर्शक की आँखों में पहुँचती हैं, जिससे वृक्ष उल्टे दिखाई पड़ते हैं मानों जल में उनकी परछाईं पड़ रही हो।



आलोक-रश्मियों का आवर्त्तन

अभी तक हम यही समझते आए हैं कि आलोक-रश्मियाँ सीधी रेखाओं में आगे बढ़ती हैं। किन्तु हर दशा में यह नियम लागू नहीं होता। जब तक आलोक एक ही माध्यम में गमन करता रहता है, निस्सन्देह इसका मार्ग एकदम सीधा होता है। किन्तु आलोक-रश्मि जब एक माध्यम में से दूसरे माध्यम में प्रवेश करती है तो वह अपने पूर्व मार्ग से विचलित हो जाती है। उदाहरणस्वरूप जब आलोक-रश्मि हवा में से पानी में प्रवेश करती है तो वह अपने पूर्व मार्ग से विचलित होकर लम्बरेखा की ओर झुक जाती है। इस क्रिया को आलोक-रश्मियों का आवर्त्तन (Refraction) कहते हैं। आलोक-रश्मियाँ जब किसी कम घने (विरल) माध्यम से अधिक घनत्ववाले माध्यम में प्रवेश करती हैं तो वे लम्बरेखा की ओर झुकती हैं। इसके प्रतिकूल जब वे अधिक घनत्ववाले माध्यम से कम घनत्ववाले माध्यम में—जैसे शीशे के अन्दर से हवा में—प्रवेश करती हैं तो लम्बरेखा से दूर बाहर की ओर झुकती हैं।

सामने रक्खी हुई किसी वस्तु को आप काँच की एक मोटी पट्टी में से देखिए तो वह वस्तु अपनी असली जगह से एक ओर को हटी हुई दिखलाई पड़ेगी, साथ ही उस वस्तु का व्यक्त स्थान वास्तविक स्थान की अपेक्षा कुछ निकट भी जान पड़ेगा। आलोक-रश्मियों के आवर्त्तन के कारण ही वह वस्तु अपनी जगह से हटी हुई जान पड़ती है। शीशे की पट्टी की मुटाई जितनी अधिक होगी वह वस्तु उतनी ही अधिक अपनी जगह से हटी हुई दिखलाई देगी। जैसा कि अगले पृष्ठ के चित्र से प्रगट है, 'क' से चलने-वाली आलोक-रश्मियाँ काँच की पट्टी में प्रवेश करते ही लम्ब-रेखा की ओर मुड़ जाती हैं। शीशे के अन्दर इन रश्मियों का मार्ग सीधा ही रहता है। फिर ये रश्मियाँ जब शीशे की पट्टी से बाहर निकलती हैं तो वे पुनः अपने मार्ग से विच-लित होती हैं। इस बार एक घने माध्यम से वे विरल माध्यम में आ रही हैं, अतः उनका झुकाव लम्बरेखा से बाहर की ओर होता है। शीशे से बाहर निकल आने पर आलोक-रश्मियों का मार्ग शीशे में प्रवेश करने के पहले-वाले मार्ग के समानान्तर होता है। ये रश्मियाँ जब हमारी आँखों में प्रवेश करती हैं तो हमें ऐसा प्रतीत होता है मानों वे क' से आ रही हैं। चित्र से स्पष्ट है कि काँच जितना ही अधिक मोटा होगा, वस्तु क अपनी जगह से उतनी ही अधिक हटी हुई दिखलाई पड़ेगी। परंतु खिड़की के काँच में से बाहर देखने पर हमें बाहर की सभी वस्तुएँ यथास्थान ही दीखती हैं—तो क्या खिड़की के काँच में होकर गुज़रने पर आलोक-रश्मि-यों में आवर्त्तन नहीं होता? वास्त-विक बात यह है कि आवर्त्तन खिड़की के काँच में भी अवश्य होता है, किन्तु यह काँच इतना पतला होता है

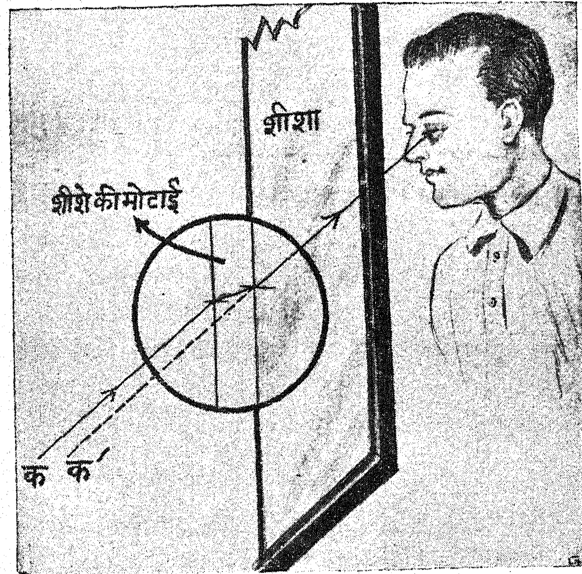


आलोक-रश्मियाँ कम घने माध्यम (जैसे हवा) से अधिक घने माध्यम (जैसे पानी) में प्रवेश करने पर लम्ब की ओर झुक जाती हैं और अधिक घने (जैसे हवा) से कम घने माध्यम (जैसे शीशा) में प्रवेश करने पर वे लम्ब से बाहर मुड़ती हैं।

कि उसमें से गुज़रनेवाली आलोक-रश्मियों का हटाव बहुत ही नगण्य-सा हो पाता है।

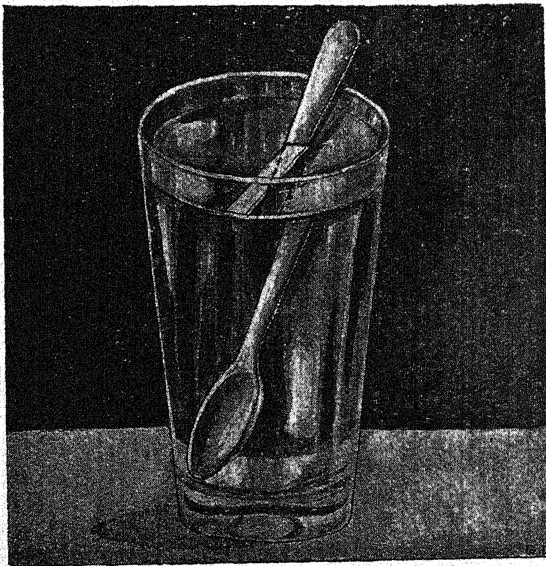
काँच की पट्टी से एक और मनोरंजक प्रयोग किया जा सकता है। मेज़ पर रूलदार कागज़ रखिए। कागज़ पर शीशे की एक पट्टी इस प्रकार रखिए कि काँच की पट्टी के किनारे कागज़ पर खिंची हुई लाइनों पर तिरछे पड़ें। अब इस पट्टी में से देखने पर ऐसा जान पड़ेगा कि लाइन का वह भाग जो शीशे की पट्टी के नीचे दबा हुआ है, दोनों किनारों पर से टूटकर एक ओर बगल में हट गया है। यदि शीशे की पट्टी कागज़ पर इस प्रकार रक्खी जाय कि लाइनें शीशे के किनारों को लम्बवत् काटती हों तो ऐसी दशा में ऊपर से देखने पर लाइन शीशे के भीतर टूटी हुई न दिखलाई देगी। यह अवश्य एक ध्यान देने योग्य बात है। क्योंकि इस निरीक्षण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आलोक-रश्मि जब एक माध्यम में से दूसरे माध्यम में लम्बवत् प्रवेश करती है तब उस रश्मि का मार्ग तनिक भी नहीं बदलता। ऐसी दशा में आलोक-रश्मियों में आवर्त्तन होता ही नहीं।

गिलास में स्वच्छ जल भरकर उसमें चम्मच इस प्रकार डाल दीजिए कि चम्मच का थोड़ा-सा भाग बाहर निकला रहे। सामने से देखने पर मालूम होगा कि पानी के अन्दर जिस जगह चम्मच प्रवेश करता है, उस जगह से चम्मच टूटा हुआ है तथा पानी के अन्दरवाला यह भाग छोटा है, और ऊपर को उठा हुआ है। पानी के



क से चलनेवाली आलोक-रश्मि शीशे में होकर निकलने पर आवर्त्तित हो जाती है जिससे दर्शक को ऐसा प्रतीत होता है मानों वह क' बिंदु से आ रही हो।

अन्दर डूबा हुआ चम्मच अपने स्थान से हटा हुआ इसलिए दिखलाई देता है कि डूबे हुए भाग से चली हुई आलोक-रश्मियाँ पानी के बाहर निकलने पर आवर्त्तित होकर अपने पूर्व मार्ग से विचलित हो जाती हैं। ये ही आलोक-रश्मियाँ जब हमारी आँखों में प्रवेश करती हैं तो हमें प्रतीत होता है कि ये इस विचलित मार्ग की दिशा में से आ रही हैं (दे० बाईं ओर का चित्र)।

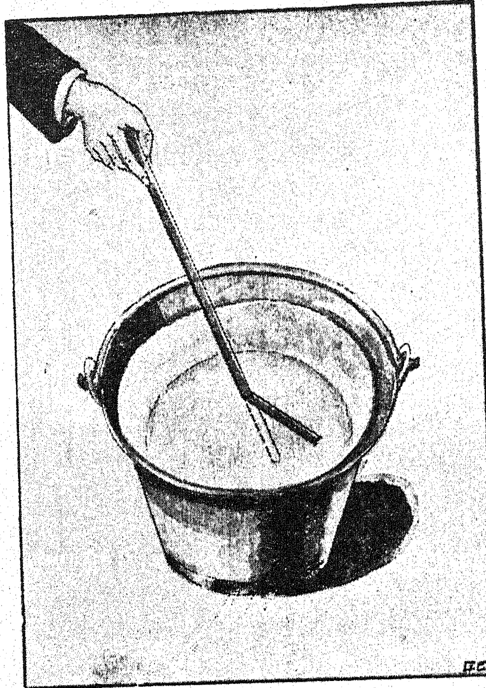


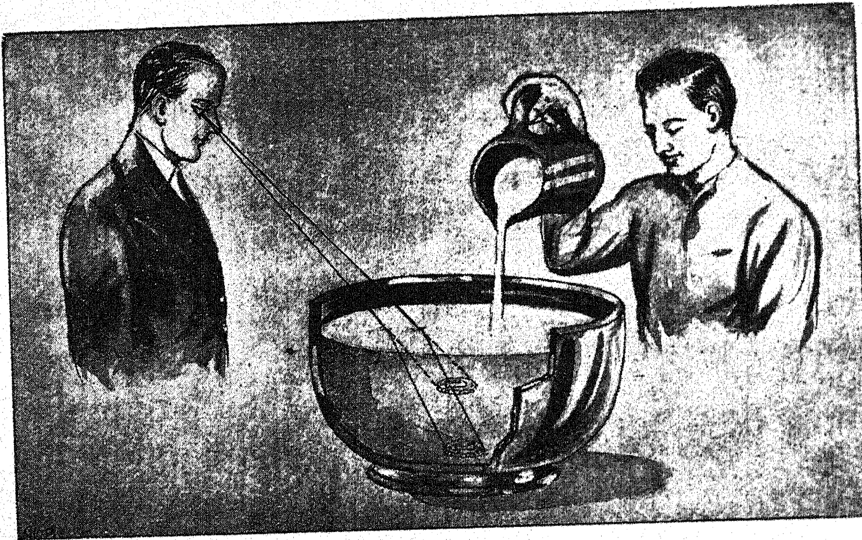
पानी से भरे गिलास में पड़ा हुआ चम्मच सामने से देखने पर वहाँ से टूटा हुआ दिखाई पड़ता है, जहाँ पानी में प्रवेश करता है। ऊपर से देखने पर वही मुड़ा हुआ दिखाई पड़ता है।

बालटी में यदि स्वच्छ जल भरा हो तो ऊपर से देखने पर बालटी की गहराई कम मालूम पड़ती है। आवर्त्तन के कारण बालटी का पेंदा उठा हुआ दिखलाई पड़ता है (दे० अगले पृष्ठ का चित्र)। कुछ वर्ष हुए चीन सागर में एक वैज्ञानिक जहाज़ यात्रा कर रहा था। एकाएक नाविकों ने शोर मचाया कि जहाज़ उथले पानी में आ गया है और नीचे की मूँगे की चट्टानों से वह टकरा जाना चाहता है। प्रधान अफ़सर की आज्ञा से जहाज़ कुछ दूर पीछे हटाया गया क्योंकि वास्तव में स्वच्छ जल में थोड़ी ही गहराई पर मूँगे की चट्टानें दिखलाई दे रही

थीं और एक साधारण बुद्धि का व्यक्ति भी यही सोचता कि इन चट्टानों से जहाज़ का पेंदा अवश्य टकराकर टूट जायगा। पर तुरन्त ही कप्तान ने थाह लगानेवाले यंत्र से गहराई नापी तो पता चला कि उस जगह समुद्र की गहराई काफ़ी थी, जहाज़ के लिए एकदम ख़तरा न था। अवश्य ही आलोक-रश्मियों के आवर्त्तन के कारण समुद्र-तल ऊँचा उठा हुआ दिखलाई दे रहा था।

एक और बात है। पानी या किसी भी पारदर्शी पदार्थ के अन्दर वस्तु को जितनी ही अधिक तिरछी दिशा से आप देखेंगे, उतनी ही ऊपर उठी हुई वह आपको दिखलाई देगी। नाव में खड़ा हुआ व्यक्ति पानी के अन्दर की मछली को अपनी वास्तविक स्थिति से ऊपर हटी हुई देखता है। किन्तु दूसरा व्यक्ति, जो नाव के अन्दर बैठा है, एकदम तिरछी दिशा से मछली के देखने का प्रयत्न कर रहा है। जैसा कि पृष्ठ १६४२ के चित्र से प्रकट है, इस व्यक्ति को ऐसा जान पड़ेगा मानों मछली एकदम ऊपर पानी की सतह के पास ही है।

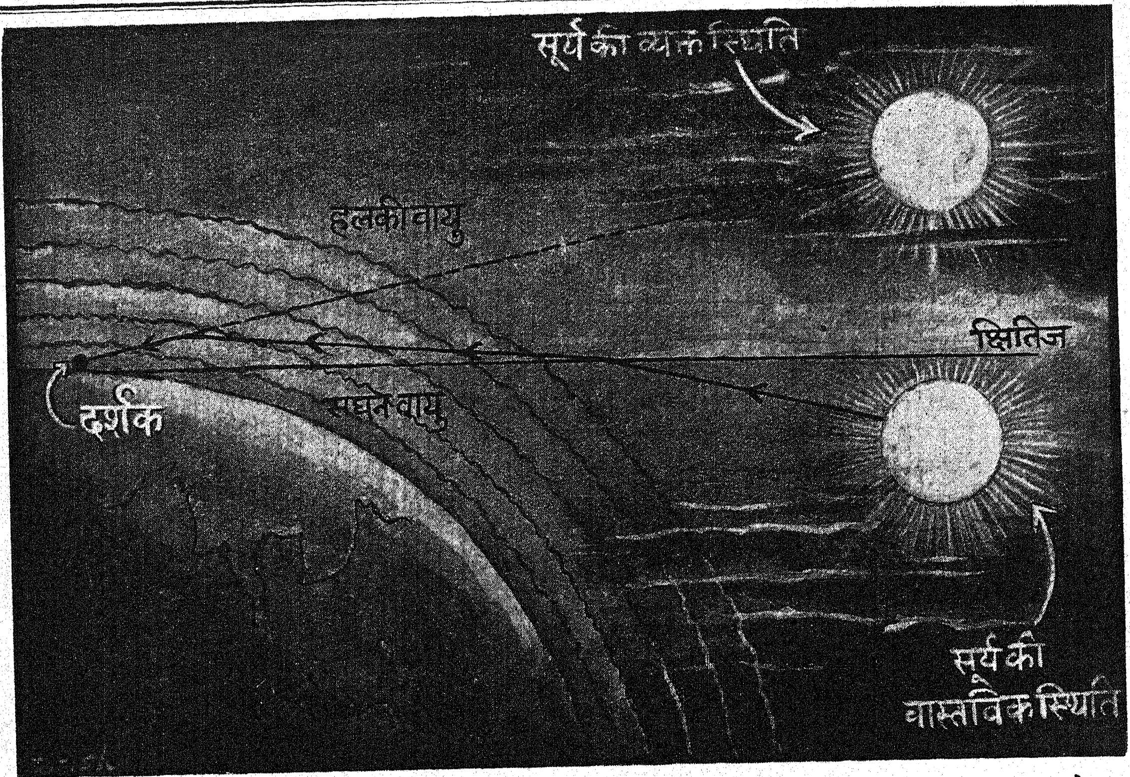




(ऊपर) बालटी में यदि स्वच्छ जल भरा हो तो ऊपर से देखने पर बालटी की गहराई कम मालूम देगी और उसका पेंदा उठा हुआ दिखाई पड़ेगा। उसमें एक लकड़ी डालिए, वह एक जगह से मुड़ी हुई दिखाई पड़ेगी। यह आलोक-रश्मियों के आवर्त्तन की ही करतूत है।

(नीचे) इकन्नी का प्रयोग। विवरण के लिए इसी पृष्ठ का मैटर पढ़िए।

आवर्त्तन के कारण धरातल के ऊपर उठ जाने का एक स्पष्ट उदाहरण निम्नलिखित प्रयोग में देखा जा सकता है। इस प्रयोग को आप अपने घर पर भी कर सकते हैं। पत्थर की एक प्याली लीजिए जिसका पेंदा चिपटा हो। अब मोम की सहायता से एक इकन्नी प्याले में रखकर पेंदे से चिपका दीजिए। प्याले को फ़र्श पर रख दीजिए। आप खड़े होकर प्याले की इकन्नी पर निगाह लगाइए। इकन्नी पर से निगाह हटाए बिना ही पीछे हटते जाइए। ज्यों ही इकन्नी आपकी दृष्टि से ओझल होती है आप ठहर जाइए। इकन्नी और आपकी आँख के बीच प्याली की दीवाल का किनारा आ गया है, इसी कारण इकन्नी अब आपको दिखलाई नहीं देती। अवश्य ही यदि इकन्नी को किसी भाँति ज़रा ऊँचा उठा दिया जाय तो आपको वह फिर दिखलाई देने लगेगी। आप अपने मित्र से कहिए कि वह प्याले के अन्दर पानी उँडेले। प्याले के अन्दर ज्यों-ज्यों पानी पहुँचेगा, इकन्नी भी ऊपर को उठती हुई जान पड़ेगी, यहाँ तक कि वह



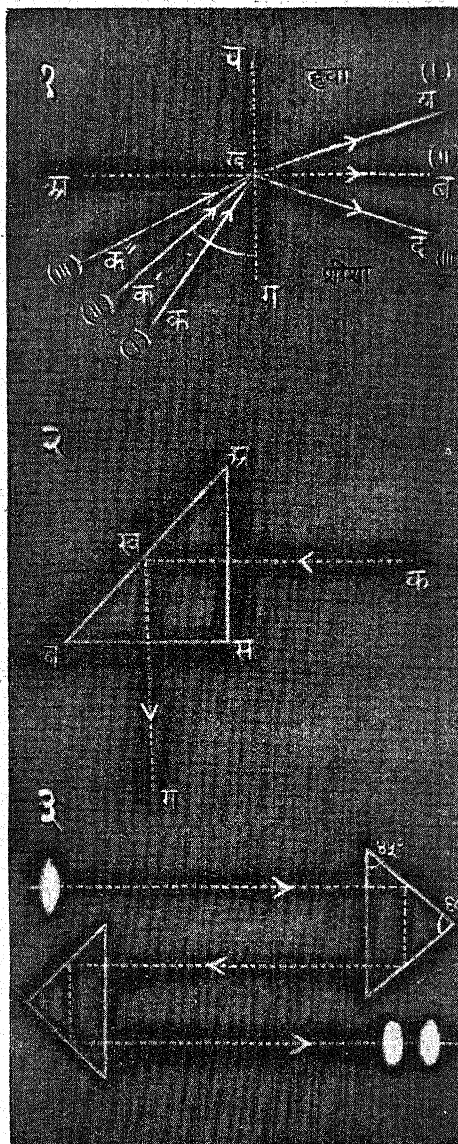
संध्या के समय सूर्य हमें क्षितिज के नीचे छिप जाने पर भी बहुत देर तक दिखाई देता रहता है। इसका कारण आलोक-रश्मियों का आवर्त्तन ही है। जैसा कि इस चित्र से विदित होता है पृथ्वी के निकट की सघन वायु की पर्त्त में से होकर दर्शक की आँखों तक पहुँचते-पहुँचते सूर्य की किरणें आवर्त्तन के कारण मुड़ जाती हैं और इस प्रकार हमें सूर्य की स्थिति क्षितिज से ऊपर व्यक्त होती है जब कि वास्तविक स्थिति काफ़ी नीचे होती है।

आपको फिर दिखलाई देने लग जायगी। क्योंकि इकन्नी से आनेवाली आलोक-रश्मि, प्याले में पानी भरने से पूर्व, एकदम सीधी आपकी आँखों तक पहुँचना चाहती थी, किन्तु बीच में प्याले की दीवाल के आ जाने से वह ऐसा करने में असमर्थ थी। पानी भर देने पर, पानी से बाहर निकलने पर आलोक-रश्मि आवर्त्तित होकर मुड़ जाती है और इस तरह वह आपकी आँखों तक पहुँच जाती है।

आवर्त्तन के कारण आलोक-रश्मियों का अपने पूर्व मार्ग से विचलित होना स्वयं अपनी आँखों से देखा जा सकता है। शीशे के एक चौकोर बर्त्तन में प्रतिदीप्त करनेवाले (fluorescent) घोल को भरिए। घोल गाढ़ा नहीं होना चाहिए। इस प्रकार का घोल कुनीन सल्फ़ेट, अलकोहोल और पानी की सहायता से तैयार किया जा सकता है। कुनीन सल्फ़ेट एक भाग और अलकोहोल १०० भाग लेकर मिला दीजिए। कुनीन सल्फ़ेट के घुल जाने पर इस घोल का एक बूँद एक लोटे पानी में डाल दीजिए। अब धूपछाँह रंग का एक प्रतिदीप्त करनेवाला घोल तैयार हो गया। दफ़्ती के दो टुकड़े लेकर उनमें दो झिरी काटिए। शीशे की दीवाल के सामने दोनों दफ़्तियों को इस प्रकार रखिए कि दोनों झिरी से गुज़रनेवाली रेखा बर्त्तन की दीवाल पर तिरछी पड़े। एक तेज़ रोशनीवाले टार्च से आलोक-रश्मियों का पुंज यदि झिरी के रास्ते बर्त्तन में भेजा जाय तो आप देखेंगे कि ये रश्मियाँ दोनों झिरी की सीध में घोल के अन्दर अपना मार्ग नहीं बनातीं, वरन् वे अपने पूर्व मार्ग से थोड़ी विचलित हो जाती हैं। चूँकि ये रश्मियाँ एक घने माध्यम में प्रवेश कर रही हैं, अतः ये घोल के अन्दर घुसते ही लम्बरेखा की ओर मुड़ जाती हैं। घोल के अन्दर ये किरणें स्पष्ट दिखलाई पड़ती हैं, क्योंकि आलोक-रश्मि के मार्ग में घोल के जो अवयव आते हैं वे एकदम प्रदीप्त हो उठते हैं। अतः आलोक-रश्मि का मार्ग भी आलोकित हो जाता है।

आवर्त्तन का गुण न केवल पारदर्शी ठोस और द्रव में पाया जाता है, बल्कि गैसों में भी यह गुण मौजूद है। हाइड्रोजन में आवर्त्तन की शक्ति सबसे अधिक और आक्सीजन में सबसे ज़्यादा है। यदि हवा की आवर्त्तन-शक्ति को हम १००० मानें तो हाइड्रोजन की आवर्त्तन-

शक्ति ६६१४ और आक्सीजन की ८६१ उतरेगी। स्वयं हवा के विभिन्न स्तर यदि भिन्न-भिन्न तापक्रम पर हुए तो घनत्व बदल जाने के कारण उनकी आवर्त्तन-शक्ति एक-सी नहीं रह जाती। फलस्वरूप इन वायुस्तरों में से होकर आलोक-रश्मि जब गुज़रती है तो प्रत्येक नए स्तर में प्रवेश करने पर वह अपना मार्ग थोड़ा-सा बदल देती है। यदि किसी कारण इन वायुस्तरों का तापक्रम निरन्तर बदलता रहे तो उसी के अनुसार आलोक-रश्मि भी अपना मार्ग निरन्तर बदलती रहेगी। कुम्हार के आँवें के पास सुबह को चले जाइए। आँवें के स्पर्श में आनेवाली हवा के स्तर गर्म होते हैं, किन्तु ऊपर के वायुस्तर ठंडे। अतः इन वायुस्तरों में से होकर दूर की चीज़ों से आनेवाली आलोक-रश्मियाँ आवर्त्तित हो जाती हैं। हवा के बहते रहने से इन वायुस्तरों का तापक्रम बदलता रहता है, अतः हमारी आँखों तक पहुँचनेवाली आवर्त्तित रश्मियों का मार्ग भी निरन्तर बदलता रहता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों दूर की वे वस्तुएँ काँप रही हैं। जेठ की दुपहरिया में भी प्रायः इसी ढंग का अनुभव हमें होता है और तब हम कहते हैं कि दुपहरिया नाच रही है।



(१) देखिए पृ० १६४२–१६४४ का मैटर।
(२) प्रिज़्म द्वारा पूर्ण परावर्त्तन। देखिए पृ० १६४४ का मैटर।
(३) प्रिज़्मयुक्त दो आँखवाली दूरबीन का सिद्धान्त। देखिए पृ० १६४४ का मैटर।

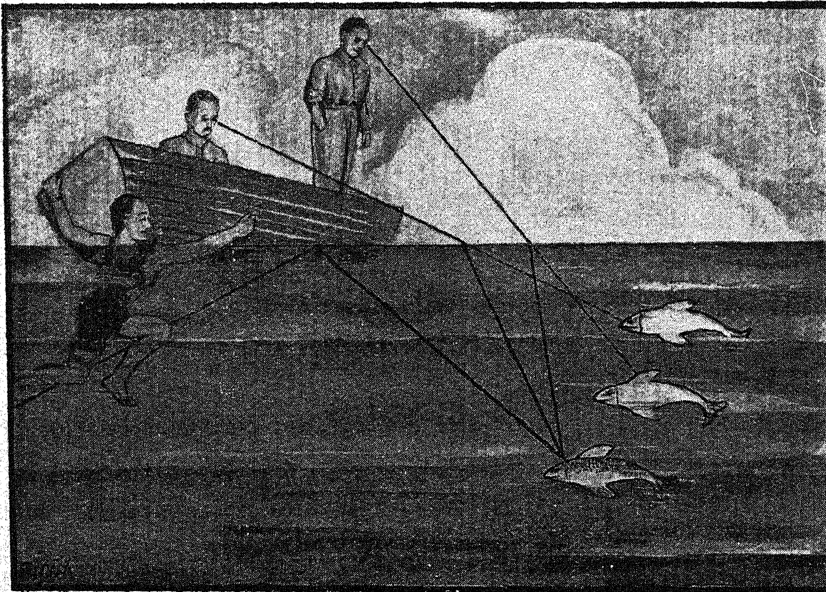
आकाश के ग्रह और नक्षत्रों से चली हुई आलोक-रश्मियाँ जब शून्य (वैकुअम) से हमारी पृथ्वी के वायुमण्डल में प्रवेश करती हैं तो वे अपने पूर्व मार्ग से आवर्त्तन के कारण विचलित हो जाती हैं। इसी कारण सूर्यास्त के समय यद्यपि सूर्य्य क्षितिज से नीचे पहुँच चुका होता है, फिर भी हमें ऐसा जान पड़ता है मानों समूचा सूर्य्य अभी क्षितिज के ऊपर ही है। क्षितिज के नीचे से चली हुई आलोक-रश्मियाँ वायुस्तरों द्वारा आवर्त्तित होकर मुड़ जाती हैं, और इस तरह वे हमारी आँखों में पहुँचने तक समर्थ होती हैं। आसमान के नक्षत्रगण भी आवर्त्तित किरणों द्वारा ही हमें दृष्टिगोचर होते हैं। अतः वे हमें अपनी वास्तविक स्थिति से कुछ ऊपर उठे हुए दिखलाई देते हैं। इस स्थल पर यह लोकोक्ति ख़ूब चरितार्थ होती है कि जिस रूप और दशा में हमें चीज़ें दिखाई पड़ती हैं, वे प्रायः यथार्थता से भिन्न होती हैं।

हमारी पृथ्वी गोल है, अतएव धरती पर हम बहुत दूर तक चीज़ें देख नहीं सकते। क्योंकि कुछ मील आगे बढ़ने पर धरती का उभड़ा हुआ भाग बीच में आ जाता है और इस कारण दूर की चीज़ें क्षितिज से नीचे छिप जाती हैं। परंतु ध्रुवप्रान्तों में ठण्डे हिम के स्पर्श से धरती के निकट के वायुस्तर विशेष ठण्डे हो जाते हैं। ऐसी परिस्थितियों में प्रायः क्षितिज के नीचे के जहाज़ या गाँव आवर्त्तित किरणों की मदद से स्पष्ट दिखलाई दे जाते हैं। ध्रुव-अनुसन्धान के प्रसिद्ध अभियानकारी विलियम स्कोरेस्बी का कहना है कि ग्रीनलैण्ड से कुछ दूर जब वह अनुसन्धान के निमित्त अपने जहाज़ पर जा रहे थे तब उन्होंने 'फेम' नामक जहाज़ को एक दिन बिल्कुल स्पष्ट देखा, यद्यपि वह जहाज़ क्षितिज से पूरे १७ मील आगे था। मारीशस द्वीप के समुद्र-तट पर एक नाविक को एक बार एक जहाज़, जो

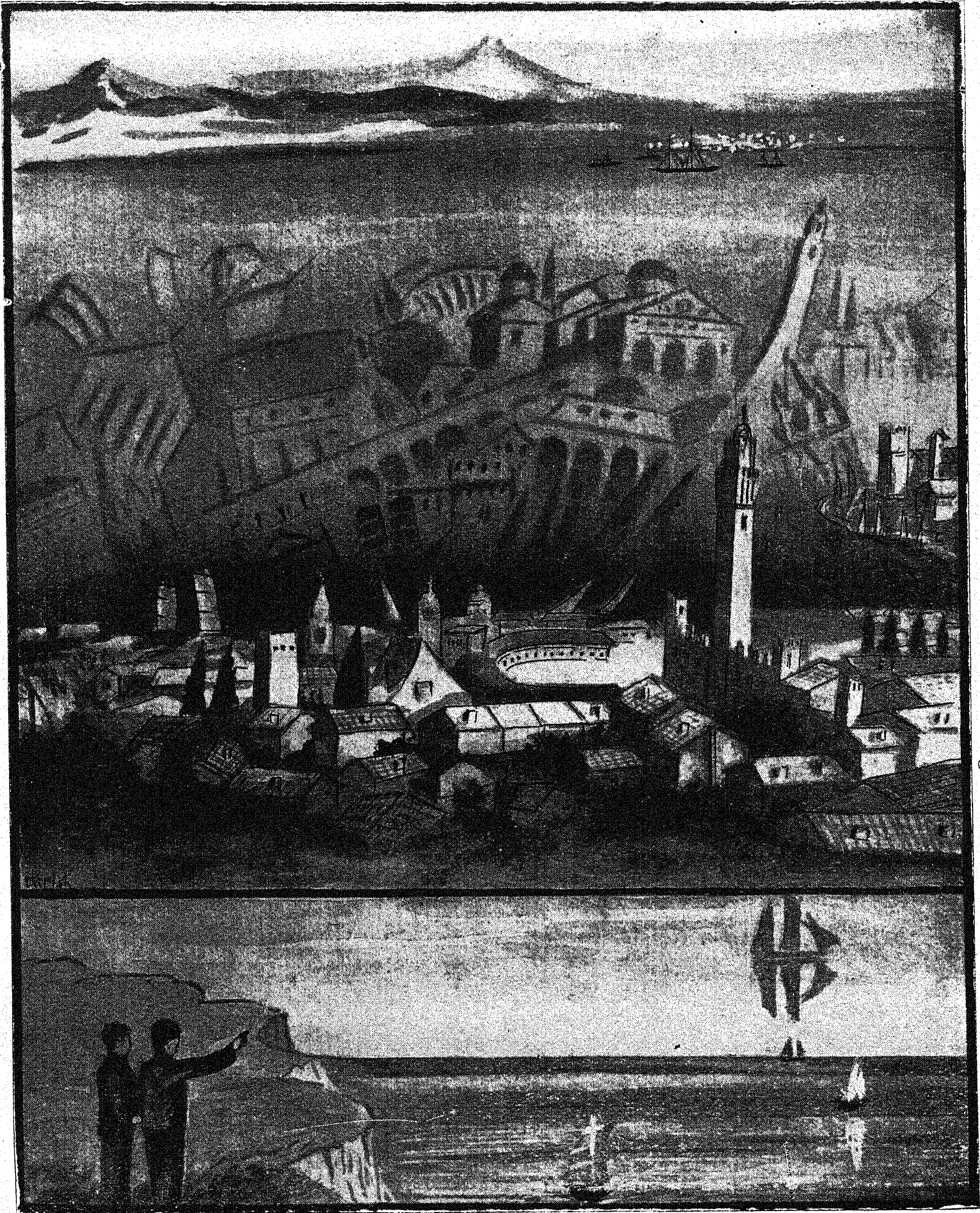
उस समय पूरे २०० मील के फ़ासले पर था, बिल्कुल साफ़ दिखलाई पड़ा था। कहने की आवश्यकता नहीं कि आवर्त्तन के बिना धरती पर इतनी दूर की चीज़ें कदापि नहीं दृष्टिगोचर हो सकतीं। आवर्त्तन द्वारा क्षितिज से ऊँचे उठकर दृष्टिगोचर होने की क्रिया को अंग्रेज़ी में लूमिंग (Looming) कहते हैं। डोवर और कैले के बीच ब्रिटिश चैनेल की चौड़ाई ४५ मील है। अतः डोवर से कैले की चीज़ें साधारणतः दिखलाई नहीं दे सकतीं, क्योंकि डोवर के क्षितिज से कैले नीचे पड़ता है। किन्तु एक बार दूरवीक्षण यंत्र से देखने पर बोलोन से कैले की ओर भागती हुई एक रेलवे ट्रेन स्पष्ट दृष्टिगोचर हुई थी। बोलोन का नेपोलियन स्तम्भ तो कैले से कई बार देखा जा चुका है।

वायुमण्डल द्वारा आवर्त्तन के कारण प्रातः और सन्ध्या समय प्रायः सूर्य्य का रूप चिपटा-चिपटा-सा दिखाई पड़ता है। दोपहर को सूर्य्य जब ऊपर आकाश में रहता है तो उस समय सूर्य्य के प्रत्येक भाग से जो किरणें वायुमण्डल में प्रवेश करती हैं वे वायुस्तर के साथ लगभग बराबर कोण बनाती हैं, अतः उन सबमें आवर्त्तन द्वारा विचलन भी समान मात्रा में ही होता है। किन्तु सन्ध्या या सुबह को सूर्य्य के गोले के शीर्षभाग से आनेवाली किरणें वायुस्तर को उतनी तिरछी नहीं काटतीं, जितनी गोले के निचले भाग से आनेवाली किरणें। अतः निचले भाग से आनेवाली किरणों में आवर्त्तन भी अपेक्षाकृत अधिक होता है। फलस्वरूप सूर्य्य के गोले का शीर्षभाग आवर्त्तन द्वारा उतना ऊपर नहीं उठ पाता जितना उसका निचला भाग। अतएव सूर्य्य का गोला अब गोला न रहकर कुछ चिपटा हो जाता है।

हम जानते हैं कि आलोक-रश्मियाँ जब किसी विरल माध्यम में से होकर किसी सघन माध्यम में प्रवेश करती हैं तो आवर्त्तित किरण लम्ब की ओर झुक जाती है। इसके विपरीत सघन माध्यम में से विरल माध्यम में प्रवेश करने पर आवर्त्तित किरण लम्ब रेखा से दूर को मुड़ जाती है। इस दशा में सघन माध्यम में से आनेवाली आलोक-रश्मि यदि विरल माध्यम में तिरछी दिशा से प्रवेश करे तो आवर्त्तित किरण लम्ब रेखा से और भी दूर हट जायगी। जैसा कि पृ० १६४१ के चित्र १ से प्रकट है, यदि कोण ∠ क ख ग को धीरे-धीरे बढ़ाते जायँ तो ∠ च ख य भी बढ़ता जायगा, यहाँ तक कि किरण क ख की ऐसी स्थिति भी आ पहुँचेगी जब आवर्त्तित किरण धरातल अ ख ब से बाहर निकलने में एकदम असमर्थ होगी। आवर्त्तित किरण अ ख ब के समानान्तर निकलेगी। यह उस विरल माध्यम में प्रवेश न कर पायगी। इस दशा में सघन माध्यमवाली किरण लम्ब के साथ जो कोण बनाती है उसे 'चरम कोण' (critical angle) कहते हैं। यदि किरण क ख को और भी तिरछी की जाय तो ∠ क″ ख ग का मान 'चरम कोण' के मान से बढ़ जायगा और तब आवर्त्तित किरण न तो विरल माध्यम में पहुँच पायगी और न वह पृथक्करणी धरातल



नाव में खड़ा हुआ व्यक्ति पानी के अंदर की मछली को अपनी वास्तविक स्थिति से ऊपर हटी हुई देखता है। किंतु दूसरा व्यक्ति जो नाव के अंदर बैठा है, एकदम तिरछी दिशा से मछली को ऐसा देख रहा है मानों वह पानी की सतह के एकदम पास ही है। तीसरा व्यक्ति, जो पानी की सतह पर तैर रहा है, मछली को देख ही नहीं पा रहा है। यह सब आलोक-रश्मियों के आवर्त्तन की ही करामात है।



इटली और सिसली द्वीप के बीच मेसिना के जलडमरूमध्य में एक विचित्र मरीचिका दिखाई पड़ती है जिसका दृश्य इस चित्र के ऊपरी भाग में दिया गया है। प्रायः सिसली के तट पर किसी ऊँचे स्थान पर खड़े दर्शक को किसी-किसी दिन सुबह आकाश में वायुमण्डल में इसी प्रकार के टेढ़े-मेढ़े मकानों, जहाज़ों आदि की एक धुँधली-सी तस्वीर दिखाई पड़ने लगती है, जो क्षण-क्षण पर बदलती रहती है। यह विचित्र दृश्य प्रातःकालीन कोहरे पर प्रकाश-रश्मियों के आवर्त्तन और परावर्त्तन के कारण ही प्रस्तुत होता है। इसी प्रकार कभी-कभी ठंढे देशों के समुद्र-तट पर से ऊँचे आकाश में किसी जहाज़ का बिंब भी दिखाई देने लगता है, जैसा कि चित्र के नीचे के भाग में प्रदर्शित है।

अ ख ब के समानान्तर ही निकलेगी, बल्कि यह किरण बिन्दु ख पर उस पृथक्करणी धरातल से समूची ही परावर्त्तित हो जायगी। अ ख और क ख के बीच की सभी आलोक-रश्मियों का सम्पूर्ण परावर्त्तन होना अवश्यम्भावी है। काँच से वायु में जानेवाली आलोक-रश्मि के लिए चरम कोण का मान ४२ डिग्री है। पानी से वायु में जानेवाली आलोक-रश्मि का चरम कोण ४८½ डिग्री है।

बढ़िया-से-बढ़िया दर्पण में भी क़लईवाले धरातल से पूर्ण परावर्त्तन नहीं हो पाता। दर्पण पर आलोक-रश्मियाँ जब गिरती हैं तो उनका कुछ अंश तो दर्पण के ऊपरी धरातल से ही परावर्त्तित हो जाता है और शेष भीतर के क़लईवाले धरातल से परावर्त्तित होता है। अतः ऐसे दर्पण में बननेवाला बिम्ब न उतना स्पष्ट होता है और न उतना चटकीला, जितना सम्पूर्ण परावर्त्तन द्वारा बना हुआ बिम्ब। चटकीला बिम्ब प्राप्त करने के लिए ऐसा साधन काम में लाना होता है जिसमें आलोक-रश्मियों का परावर्त्तन पूर्ण रूप से हो। १६४१ पृ० के चित्र २ में अ स ब एक समद्विबाहु समकोण प्रिज़्म (Prism) है। रश्मि 'क ख' भुजा 'अ स' को भेदकर 'अ ब' तक सीधी पहुँच जाती है। 'अ स' पर इस रश्मि का आवर्त्तन नहीं होता, क्योंकि 'अ स' पर 'क ख' लम्बवत् गिरती है। स्पष्ट है कि अब धरातल के लम्ब के साथ 'क ख' ४५ डिग्री का कोण बनाती है। अतः रश्मि 'क ख' धरातल अ ब को भेद-कर बाहर निकल पाएगी। पूर्ण रूप से परावर्त्तित होकर 'ख ग' के रास्ते यह रश्मि 'ब स' को भेदती हुई बाहर निकल जाती है, मानो 'अ ब' एक अत्यन्त ही बढ़िया दर्जे का दर्पण है। सबमैरीन के पेरिस्कोप में दर्पण के स्थान पर इसी ढंग के समकोण प्रिज़्म का प्रयोग होता है ताकि बाहरी दृश्य का बिम्ब पेरिस्कोप के धुँधले काँच के परदे पर स्पष्ट और चटकीला बन सके। प्रिज़्मवाली दो आँखों की दूरबीन (Binocular) में भी आलोक-रश्मियों को परावर्त्तित करके उलटी दिशा में ले जाने के लिए दो समकोण प्रिज़्मों का प्रयोग करते हैं। ऐसा करने से दूरबीन की लम्बाई में दो तिहाई की कमी हो जाती है (दे० १६४१ पृ० के चित्र में नं० ३)।

सम्पूर्ण परावर्त्तन के सम्बन्ध में स्वयं आप भी एक दिल-चस्प प्रयोग कर सकते हैं। पानी से भरे हुए एक काँच के बरतन में एक पतली परख-नली तिरछी करके इस प्रकार रखिए कि पानी के धरातल के साथ वह ५० डिग्री से बड़ा कोण बनाए। अब बरतन की दीवालों में से सूर्य की किरणें यदि नली की ओर भेजी जायँ तो ये पूर्ण रूप से नली की दीवाल पर परावर्त्तित हो जायँगी और ऊपर से देखने पर ऐसा जान पड़ेगा मानों नली की दीवाल चाँदी की बनी है। तदुपरान्त परख-नली में स्वच्छ जल भर दीजिए। नली की सारी चमक तत्काल ही जाती रहेगी, क्योंकि अब नली की दीवाल पर आलोक-रश्मियों के पूर्ण परावर्त्तन होने का कोई कारण शेष न रहा।

हीरे का चरम कोण २४½ अंश होता है। अतः हीरे के धरातल से आलोक-रश्मियों के पूर्ण परावर्त्तन होने की सम्भावना अधिक होती है। हीरे की काटछाँट इस होशि-यारी से की जाती है कि जो आलोक-रश्मियाँ सामनेवाले पहलू से परावर्त्तित न होकर भीतर प्रवेश कर जाती हैं उनका फ़ौरन् ही बगल वाले पहलू से पूर्ण परावर्त्तन हो जाता है। अतः हीरा तनिक से प्रकाश को पाकर भी जग-मगा उठता है।

मरीचिका (मृगतृष्णा) के पीछे भी आवर्त्तन और सम्पूर्ण परावर्त्तन का रहस्य छिपा हुआ है। मरुस्थल की तपती हुई धूप में यात्री को ऐसा प्रतीत होता है कि फ़ासले पर पानी से भरा हुआ कोई तालाब है। वृक्ष, पहाड़ और आसमान का बिम्ब भी पानी में उसे दिखलाई पड़ता है। किन्तु वास्तविकता यह होती है कि उस ठौर भी वैसी ही तपती हुई बालू पड़ी रहती है। पानी का कहीं नामो-निशान नहीं होता। समीप जाने पर प्यास से व्याकुल यात्री हताश हो जाता है। रेगिस्तान में भूमि की तप्त रेत के स्पर्श से निकट के वायुस्तर ख़ूब गरम हो जाते हैं, किन्तु ऊपर के वायुस्तर अपेक्षाकृत ठण्डे ही रहते हैं। अतः ऊपर से ज्यों-ज्यों हम नीचे आते हैं, हमें सघन से विरल माध्यम मिलते हैं। खजूर के वृक्ष की चोटी से आनेवाली आलोक-रश्मि ज्यों-ज्यों नीचे उतरती है, वह लम्ब रेखा से दूर हटती जाती है। यहाँ तक कि कुछ दूर नीचे पहुँचने पर इस रश्मि और लम्ब रेखा के बीच के कोण का मान इतना बढ़ जाता है कि यह रश्मि अन्य वायुस्तरों को भेद-कर आगे नहीं बढ़ सकती। इसका पूर्ण परावर्त्तन हो जाता है। परावर्त्तित होकर ऊपरवाले वायुस्तरों को पार कर यात्री की आँखों में जब यह आलोक-रश्मि पहुँचती है तो ऐसा जान पड़ता है मानो यह रश्मि नीचे से आ रही है। यात्री समझता है कि वह फ़ासले पर पानी के अन्दर खजूर के वृक्ष और आसमान का बिम्ब देख रहा है।

तारकोल पुती हुई काली सड़क पर भी मई-जून की दुपहरिया में अक्सर लोगों ने मरीचिका देखी है।



नमक का तेज़ाब और क्लोरीन गैस

एक परीक्षा-नली में थोड़ा-सा नमक ले लीजिए और उसमें कुछ सांद्र सल्फ़्यूरिक ऐसिड छोड़कर मिश्रण को थोड़ा-सा गर्म कीजिए। आप देखेंगे कि मिश्रण बुदबुदाने लगा और एक तीक्ष्ण गंधवाली अदृश्य गैस निकलकर श्वेत धूमों के रूप में बाहर हवा में मिलने लगी। क्या आप जानते हैं कि यह गैस क्या है? इस गैस का नाम हाइड्रोजन क्लोराइड अथवा हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस है। 'हाइड्रोजन क्लोराइड' इसलिए कि यह गैस हाइड्रोजन और क्लोरीन नामक तत्त्वों के संयोग से बनती है, और 'हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस' इसलिए कि जब यह पानी में घुलती है तो नमक का तेज़ाब तैयार हो जाता है। इस गैस के एक अणु में हाइड्रोजन और क्लोरीन का एक-एक परमाणु रहता है, इसीलिए इसका अणुसूत्र HCl लिखा जाता है। बतलाने के लिए तो मैं बात-की-बात में इन सब तथ्यों को बतला गया; लेकिन शायद आप इसका अनुमान न कर सकेंगे कि मनुष्य को इन तथ्यों तक पहुँचने के लिए कितना समय लगा और कितना प्रयास करना पड़ा है!

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ तक, नमक का तेज़ाब क्या, नमक तक एक रासायनिक रहस्य रहा; यद्यपि मनुष्य द्वारा नमक का व्यवहार पूर्व-ऐतिहासिक काल से ही होता आ रहा है। लगभग आठवीं शताब्दी में अरब के कीमियागरों ने नमक, शोरा और फिटकरी के मिश्रण को गर्म करके 'अम्लराज' तैयार किया। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में बेसिल वैलेण्टाइन ने नमक और हरा कसीस के मिश्रण को, और फिर ग्लॉबर ने नमक और गंधकाम्ल के मिश्रण को गर्म करके नमक का तेज़ाब बनाया। इन विधियों के आविष्कार के बाद एक शताब्दी और पचीस वर्ष और व्यतीत हो गए। सन् १७७४ ई० में स्वीडेन के रसायनज्ञ शीले ने पाइरोलुसाइट (मैङ्गनीज़ डाइऑक्साइड) नामक खनिज को नमक के तेज़ाब के साथ गर्म किया। उसने देखा कि हरापन लिये हुए एक हलकी पीली गैस निकल रही थी। उसमें नाक, गले और फेफड़ों में जलन-सी पैदा करनेवाली एक बड़ी ही तीक्ष्ण गंध थी और बनस्पति रंगों को वह सरलता से उड़ा देती थी। एक अनोखी वस्तु शीले के सामने उपस्थित थी। आख़िर यह है क्या? फ़्लोजिस्टनरहित नमक की तेज़ाब तो नहीं,—कारण, मैङ्गनीज़ डाइऑक्साइड ने अपनी ऑक्सिजन द्वारा फ़्लोजिस्टन ही निकाल लिया होगा! लगभग ग्यारह वर्ष बाद बर्थोले ने देखा कि जब पानी में शीले की गैस का घोल प्रकाश में रक्खा जाता है तो ऑक्सिजन निकलती है और पानी में नमक का तेज़ाब बच रहता है। तो फिर यह हरी-सी गैस नमक के तेज़ाब और ऑक्सिजन के संयोग से बना हुआ पदार्थ होना चाहिए! बर्थोले ने १७८५ में, लवायशिये ने १७८६ में, और गे-लूज़क और थेनार्ड ने १८०६ में बार-बार यही राय दी। अतएव इस गैस का नाम ऑक्सीम्यूरिआटिक ऐसिड पड़ा, क्योंकि नमक के तेज़ाब का नाम म्यूरिआटिक ऐसिड था। म्यूरिआटिक ऐसिड का अर्थ 'समुद्र के नमक का तेज़ाब' होता है।

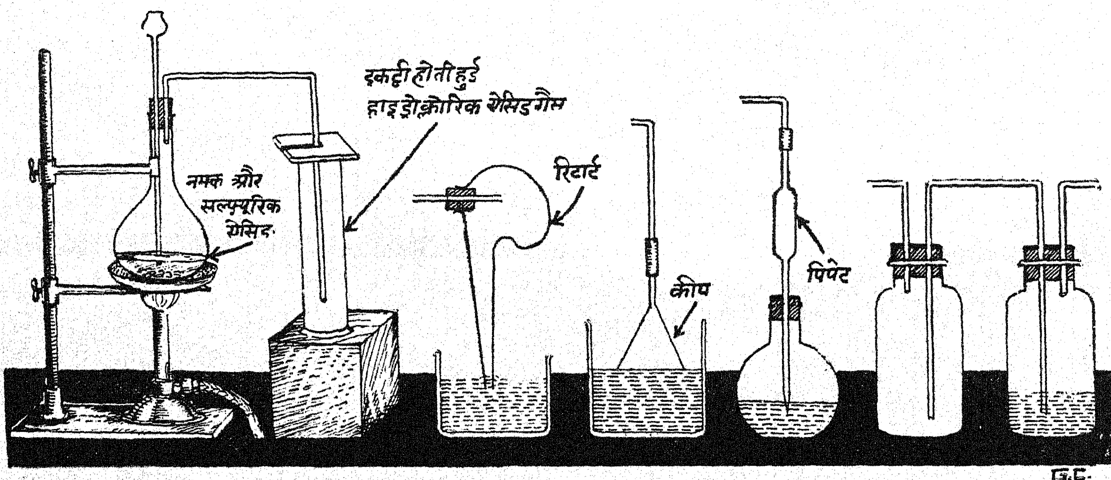
किन्तु ये सब धारणाएँ असत्य थीं। नमक, उसके तेज़ाब और इस तेज़ाब से बनी हुई शीले की गैस की रासायनिक वास्तविकता को समझने के लिए ये सब वैज्ञानिक अंधकार में ही व्यर्थ भटक रहे थे। इंग्लैण्ड के प्रतिभाशाली वैज्ञानिक सर हम्फ़्री डेवी ने १८१० में शीले की गैस पर अनेकों प्रयोग किये और यह सिद्ध कर दिया कि यह गैस ऑक्सिजन का यौगिक नहीं, एक नया मूलतत्त्व है! उसने इसका नाम क्लोरीन रक्खा, क्योंकि ग्रीक भाषा में 'क्लोरस' का अर्थ हरापन लिये हुए पीला होता है। सन् १८०७ में डेवी अपने अत्यंत मनोरंजक बिजली के प्रयोगों द्वारा सोडियम धातु का भी आविष्कार कर चुका

था। इन महत्वपूर्ण आविष्कारों के बाद ही नमक और नमक के तेज़ाब की ठीक रासायनिक रचना निर्धारित हो सकी। नमक सोडियम और क्लोरीन का यौगिक प्रमाणित हुआ, जिसके प्रत्येक अणु में सोडियम और क्लोरीन के एक-एक परमाणु रहते हैं। इसीलिए तो नमक का रासायनिक नाम सोडियम क्लोराइड है, और उसका अणु-सूत्र NaCl लिखा जाता है। Na सोडियम का और Cl क्लोरीन का संकेत है।

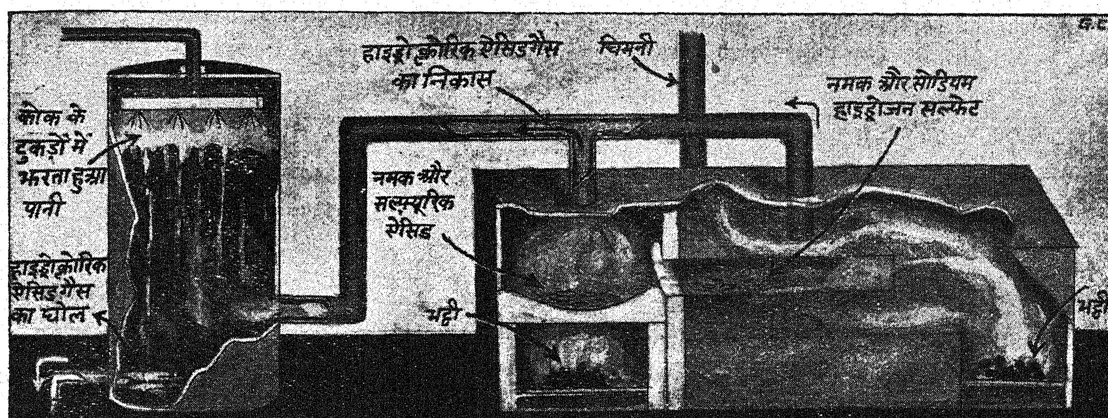
हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड अथवा नमक का तेज़ाब

नमक के तेज़ाब का उपयोग तो आपने कदाचित् कहीं-न-कहीं देखा ही होगा। धातुओं को साफ़ करने, कपड़ों से लोहे के धब्बों को निकालने, और औषध-रूप में भी उसका उपयोग हुआ ही करता है। रसायनशाला के सबसे उपयोगी प्रतिकारकों (reagents) में हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड भी है। पानी में न घुलनेवाले अधिकतर लवणों को वह घुलनशील क्लोराइडों में बदलकर घुला देती है। सुवर्ण, प्लैटिनम तथा कई अन्यथा अघुलनशील लवणों को घोलने के लिए 'अम्लराज' (देखिए पृ० १३१४) तैयार करने में भी इस अम्ल का उपयोग होता है। इसके अलावा प्रयोगशाला में हाइड्रोजन, क्लोरीन, कार्बन डाइऑक्साइड, हाइड्रोजन सल्फ़ाइड आदि गैसों को बनाने में भी यह काम में लाई जाती है। व्यापारिक परिमाणों में वह क्लोराइड लवण, क्लोरीन, रंग, आदि के बनाने में तथा अन्य अनेक धंधों में भी व्यवहृत होती है।

नमक से हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड अब भी ग्लॉबर की ही क्रिया द्वारा बनाई जाती है। यदि आप अपनी प्रयोगशाला में उसे तैयार करना चाहते हैं तो एक फ़्लास्क में थोड़ा-सा नमक ले लीजिए और थिसिल कीप द्वारा उसमें कुछ सांद्र गंधक का तेज़ाब डालकर कीप के निचले सिरे को तेज़ाब के अंदर कर दीजिए। अब बालुकाकुंडी पर रखकर फ़्लास्क को गर्म कीजिए और गैस को इसी पृष्ठ के चित्र में दिखाए गए प्रबंध द्वारा इकट्ठा कर लीजिए। हाइड्रोजन क्लोराइड गैस हवा से सवागुनी से कुछ अधिक भारी होती है, अतएव वह जार में हवा को ऊपर हटाकर इकट्ठी हो जाती है। यदि आपको इसे पानी में घोलकर नमक का तेज़ाब बनाना है तो निकास-नली के सिरे को पानी में भूलकर भी न डुबाइएगा ; नहीं तो पानी गैस को घोलता हुआ एकाएक निकाल-नली में चढ़कर फ़्लास्क में पहुँच जायगा, और वहाँ उसके सांद्र गंधकाम्ल के संसर्ग में आते ही इतनी गर्मी का उत्पादन होगा कि सारा मिश्रण एकाएक उबल पड़ेगा। इस उबल पड़ने में बहुधा फ़्लास्क फट पड़ता है और शीशे के टुकड़ों और गर्म सल्फ़्यूरिक ऐसिड के उड़ने से प्रयोगकर्त्ता को गहरी चोट लगने का भय रहता है। अतएव, तेज़ाब बनाने के लिए आप चित्र में दिखाए गए चार उपायों में से किसी एक का उपयोग कर सकते हैं। इनमें से प्रत्येक उपकरण रबर की नली के टुकड़े द्वारा निकास-नली से सम्बन्धित किया जा सकता है, और पात्रों में रक्खे हुए पानी में हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड निरापद घुलता रहता है। हाँ, पहले, दूसरे और तीसरे प्रबंध में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि रिटॉर्ट अथवा कीप अथवा पिपेट के सिरों का थोड़ा-सा ही भाग पानी में डूबा रहे; नहीं तो इन पात्रों



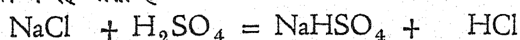
प्रयोगशाला में हाइड्रोजन क्लोराइड गैस अथवा हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड बनाने की विधि



बड़े परिमाणों में नमक के तेज़ाब का निर्माण

को भी भरकर पानी फ़्लास्क में पहुँच सकता है।

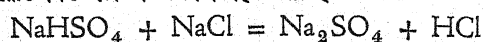
औद्योगिक पैमाने में भी अधिकतर हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड नमक और सल्फ्यूरिक ऐसिड की ही प्रक्रिया द्वारा तैयार की जाती है। जिस भट्ठी में इन दोनों का मिश्रण गर्म किया जाता है उसे 'साल्ट-केक फ़रनेस' (लवण-पिण्ड भट्ठी) कहते हैं। ढलवाँ लोहे के एक कड़ाह में नमक और प्रबल सल्फ्यूरिक ऐसिड का मिश्रण गर्म किया जाता है, जिससे हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस बनकर बाहर निकल जाती है, और सोडियम हाइड्रोजन सल्फेट (दूसरा नाम सोडियम बाइसल्फेट) और शेष नमक का मिश्रण कड़ाह में लेई के रूप में रह जाता है—



$$NaCl + H_2SO_4 = NaHSO_4 + HCl$$

सोडियम क्लोराइड (नमक) 	सल्फ्यूरिक ऐसिड (गंधक का तेज़ाब) 	सोडियम हाइड्रोजन सल्फ़ेट 	हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस

अधिक ऊँचे तापक्रम पर नमक और सोडियम बाइसल्फ़ेट की पारस्परिक क्रिया द्वारा और भी हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड का उत्पादन होता है, अतएव इनका मिश्रण कड़ाह से लोहे के एक संदूक़नुमा स्थान में सकेल दिया जाता है। दूसरी ओर की भट्ठी द्वारा इसका तापक्रम अधिक ऊँचा रक्खा जाता है। यहाँ से और भी हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस बनकर बाहर निकल जाती है और सामान्य सोडियम सल्फ़ेट पिंड रूप में जमकर रह जाता है—



$$NaHSO_4 + NaCl = Na_2SO_4 + HCl$$

इसीलिए इस भट्ठी को लवण-पिण्ड भट्ठी कहते हैं। इस भट्ठी से हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस कोक के टुकड़ों से भरी हुई एक ऐसी मीनार में ले जाई जाती है जिसमें पानी भरता रहता है। गैस पानी में घुल जाती है और तेज़ाब नीचे इकट्ठा हो जाता है और वहाँ से निकाल लिया जाता है। इस विधि में उत्पन्न होनेवाले सोडियम सल्फ़ेट से धोनेवाला सोडा बहुत बनाया जाता है।

नमक से हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड उसके सबसे सस्ते और प्रचुर होने के कारण ही बनाई जाती है। वैसे तो, किसी भी क्लोराइड पर सल्फ़्यूरिक ऐसिड की क्रिया द्वारा हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड का उत्पादन होता है, जिस प्रकार किसी भी नाइट्रेट पर उसकी क्रिया द्वारा नाइट्रिक ऐसिड बन जाती है (देखिए पृ० १३१४)।

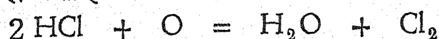
बहुधा क्लोरीन को हाइड्रोजन में जलाकर भी हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस का निर्माण कर लिया जाता है। किंतु, इस विधि का उपयोग वहीं होता है जहाँ बिजली की विधियों द्वारा हाइड्रोजन और क्लोरीन का उत्पादन आवश्यकता से भी अधिक होता रहता है।

हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड के साथ भी, उसके अत्यंत घुलनशील होने के कारण, फ़व्वारे का मनोरंजक प्रयोग (पृ० १३०८) किया जा सकता है। अंतर केवल यही होगा कि इसके अम्ल होने के कारण बाहर अमोनिया अथवा किसी अन्य क्षार का पानी लेना पड़ेगा, और बाहर और भीतर के रंग उलट जायँगे। साधारण विधि में हाइड्रोक्लोरिक गैस के बंद जार को उलटकर उसके मुँह को पानी के भीतर खोलिए। पानी घुली हुई गैस की जगह को भरता हुआ शीघ्र ही ऊपर चढ़ जायगा।

एक चीथड़े में थोड़ा-सा हलका नमक का तेज़ाब ले लीजिए और उसे पीतल आदि किसी धातु पृष्ठ पर रगड़ दीजिए। वह साफ़ हो जायगा। इसका कारण यह है कि अधिकतर धातुओं की ऑक्साइडें अथवा हाइड्रॉक्साइडें

अथवा कार्बोनेटें, जो ज़ंग के रूप में उनके पृष्ठों पर जम जाती हैं, हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड में क्लोराइडों में बदलकर सरलता से घुल जाती हैं। कपड़ों पर 'लोहे' के दाग़ लोहे की ऑक्साइड (फ़ेरिक ऑक्साइड) के होते हैं। हलके नमक के तेज़ाब की क्रिया द्वारा यह भी उसी प्रकार घुल-कर साफ़ हो जाती है। नमक के तेज़ाब में कई धातु, यथा जस्ता, लोहा, मैग्नेशियम, अलुमीनियम आदि सरलता से क्लोराइडों में परिवर्त्तित होकर घुल जाते हैं, और उसकी हाइड्रोजन गैस रूप में निकल जाती है। अम्लों में हाइड्रो-क्लोरिक ऐसिड प्रबलतम होती है। क्षारों को वह तीव्रता से मारकर क्लोराइड लवणों में परिणत कर देती है।

प्रबल ऑक्सीकारी पदार्थों द्वारा हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड की हाइड्रोजन ऑक्सीकारक द्वारा मिली हुई ऑक्सिजन से संयुक्त होकर पानी में परिवर्त्तित हो जाती है, और क्लोरीन मुक्त हो जाती है—



$$2\,HCl + O = H_2O + Cl_2$$

अम्लराज में नाइट्रिक ऐसिड यही कार्य करती है (पृ० १३१४)। इस प्रकार नमक के तेज़ाब से क्लोरीन बनाने के लिए मैङ्गनीज़ डाइऑक्साइड और पोटैशियम पर-मैङ्गनेट (कुओं आदि में डाला जानेवाला कीटाणुनाशक पदार्थ) नामक आक्सीकारकों का अधिकतर उपयोग होता है। शीले ने मैङ्गनीज़ डाइऑक्साइड की ही इस क्रिया द्वारा क्लोरीन का आविष्कार किया था।

क्लोरीन

प्रकृति में क्लोरीन का अस्तित्व न केवल नमक (सोडि-यम क्लोराइड) में ही, वरन् मैग्नेशियम क्लोराइड और पोटैशियम क्लोराइड के रूप में भी रहता है। नमक के साथ-साथ ये अन्य दोनों लवण भी समुद्र-जल में घुले रहते हैं (देखिए पृ० ५३५)। जर्मनी में स्टासफ़र्ट के निक्षेपों में पोटैशियम और मैग्नेशियम क्लोराइड बृहद् परि-माणों में मिलते हैं। तथापि क्लोरीन का सबसे प्रचुर और सस्ता यौगिक नमक ही है। समुद्रों और अनेकों झीलों के अतिरिक्त धरती में भी नमक की चट्टानों के स्तर पाये जाते हैं, और बहुधा वह मिट्टी में मिला हुआ भी पाया जाता है। हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस ज्वालामुखी पर्वतों से निकलती हुई गैसों में बहुधा रहती है, और न्यूनांशों में हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड पेट के पाचक रस (gastric juice) में भी रहती है। इसकी कमी को पूरा करने के लिए ही हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड की कुछ बूँदें पानी में घोल-कर औषध-रूप में रोगी को दी जाती हैं। क्लोरीन के अत्य-धिक संयोगशील होने के कारण प्रकृति में उसका स्वतंत्र अस्तित्व संभव नहीं होता।

क्लोरीन मनुष्य के लिए बहुत ही उपयोगी वस्तु सिद्ध हुई है। क्या आपने कभी सोचा है कि मिलों से निकले हुए दुग्ध-श्वेत काग़ज़ अथवा कपड़े किस प्रकार इतने साफ़ कर दिए जाते हैं? क्लोरीन के ही उपयोग से! नगरों में पीने का पानी प्रायः क्लोरीन द्वारा ही स्वच्छ और शुद्ध करके नलों में भेजा जाता है। ओज़ोन आदि से सस्ती होने के कारण वनस्पति रंग और कीटाणुओं की सबसे महत्वपूर्ण नाशक क्लोरीन ही है। सुवर्ण, ब्रोमीन, हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड, 'ब्लीचिंग पाउडर', क्लोराइड और क्लोरेट लवण, क्लोर-बेञ्ज़ीन, क्लोरल, विषाक्त गैसों तथा अनेक अन्य उपयोगी पदार्थों के निर्माण में क्लोरीन काम में लाई जाती है। प्रयोगशाला में भी उसका उपयोग होता रहता है, और कीटाणु-नाशक होने के कारण औषध-रूप में भी उसका व्यवहार होता है। क्लोरीन के विषाक्त होने के कारण इसका उपयोग विगत महायुद्ध में बहुत हुआ था, और संभव है इस महायुद्ध में भी हो।

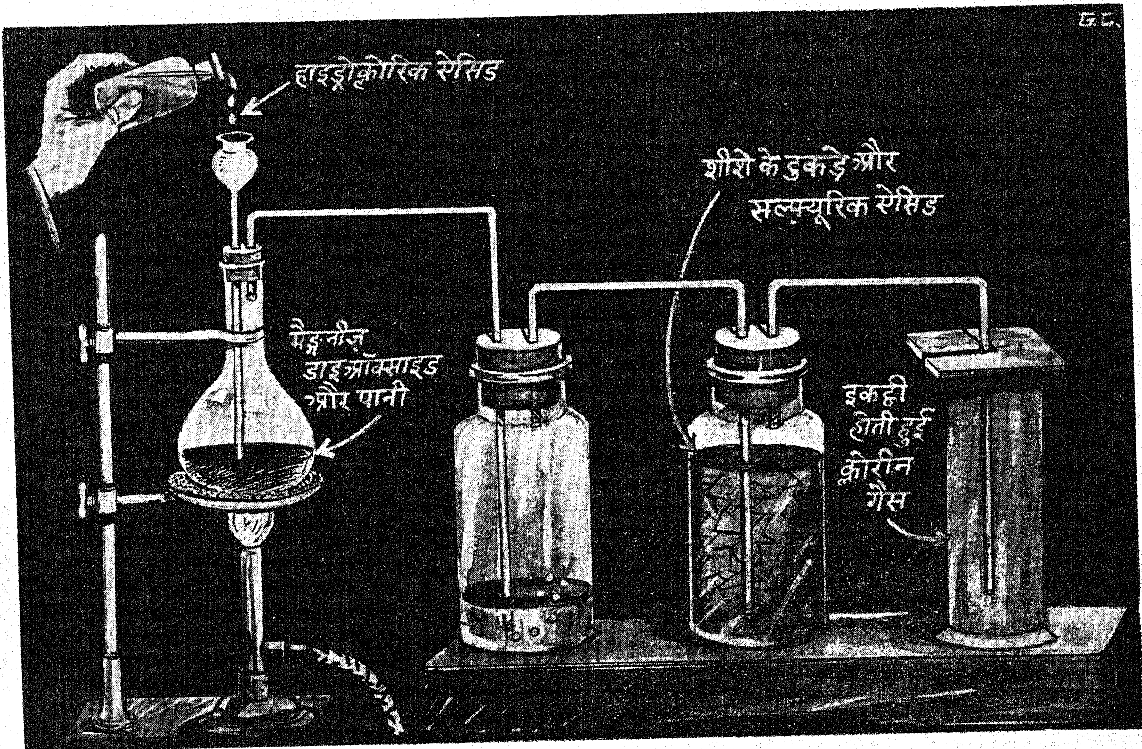
रसायनशाला में क्लोरीन तैयार करने के लिए बहुधा नमक के तेज़ाब पर मैङ्गनीज़ डाइऑक्साइड की प्रक्रिया का उप-योग होता है। इस विधि का प्रबंध यहीं अगले पृष्ठ के चित्र में दिखाया गया है। गर्म करने से कुछ हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस भी क्लोरीन में मिल जाती है, अतएव गैस को थोड़े से पानी में बुलबुला लेते हैं जिससे हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस उसमें घुलकर पृथक् हो जाती है। फिर इसे सांद्र सल्फ्यूरिक ऐसिड द्वारा शुष्क करके जारों में भर लेते हैं। क्लोरीन हवा से लगभग ढाई गुनी भारी होती है, अतएव वह हवा को ऊपर हटाकर इकट्ठी हो जाती है। यदि आप इस विधि से नमक से ही क्लोरीन बनाना चाहें तो फ्लास्क में नमक (५० ग्राम), मैङ्गनीज़ डाइऑक्साइड (२५ ग्राम) और सांद्र सल्फ़यूरिक ऐसिड के मिश्रण को गर्म कर लीजिए।

प्रयोगशाला की दूसरी विधि में मैङ्गनीज़ डाइऑक्साइड के स्थान पर पोटैशियम परमैङ्गनेट का उपयोग होता है। पोटैशियम परमैङ्गनेट मैङ्गनीज़ डाइऑक्साइड से मँहगा अवश्य होता है, किंतु यह विधि को अत्यंत सरल बना देता है। इसमें गर्म करने की आवश्यकता नहीं पड़ती (चित्र देखिए)। क्लोरीन पानी में काफ़ी घुलती है, किंतु नमक के घोल में उसकी घुलनशीलता कम हो जाती है। अत-एव वह नमक के घोल के ऊपर भी इकट्ठी की जा सकती है।

व्यापारिक परिमाणों में क्लोरीन का उत्पादन पहले

वेल्डन और डेकन की रासायनिक विधियों से ही होता था। वेल्डन की विधि में हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड पर मैङ्गनीज़ डाइऑक्साइड की प्रक्रिया द्वारा क्लोरीन तैयार की जाती थी और डेकन की विधि में ताम्रिक क्लोराइड के उत्प्रेरक प्रभाव में हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस के हवा द्वारा ऑक्सीकरण से क्लोरीन का उत्पादन होता था। बिजली का प्रचार होने पर क्लोरीन की तैयारी सीधे नमक से ही होने लगी, और इन विधियों में न केवल क्लोरीन ही किंतु साबुन बनाने का कास्टिक सोडा और हाइड्रोजन भी साथ-ही-साथ बनने लगे। नमक-जैसी सस्ती वस्तु के उपयोग और 'एक पंथ और तीन काज' के कारण इन तीनों वस्तुओं का निर्माण इन विद्युत्-विधियों द्वारा सस्ते में होने लगा। अतएव पुरानी विधियों का महत्व घट गया और आजकल तो उनका उपयोग बहुत ही कम हो गया है।

बिजली की दो मुख्य विधियाँ यहाँ चित्रों में प्रदर्शित हैं। इन दोनों ही विधियों में नमक के घोल, जिसे अंग्रेज़ी में 'ब्राइन' कहते हैं, का उपयोग होता है। घोल में, अन्य घुलनशील लवणों की भाँति, नमक भी दो विद्युदाविष्ट भागों में टूट जाता है। इन भागों को 'आयन' कहते हैं। लवण का धातव भाग सदैव धन विद्युत् से और दूसरा भाग ऋण विद्युत् से आविष्ट हो जाता है। अतएव नमक सोडियम के धनविद्युत् से आविष्ट और क्लोरीन के ऋण-विद्युत् से आविष्ट कणों में विभाजित हो जाता है। जब इन कणों पर बिजली का प्रभाव डाला जाता है तो सिद्धांतानुसार सोडियम के धन कण 'कैथोड' (ऋण द्वार) के ऋण विद्युत् द्वारा और क्लोरीन के ऋण कण 'ऐनोड' (धन द्वार) के धन विद्युत् द्वारा खिंचकर उधर ही चल पड़ते हैं। कैथोड अथवा ऐनोड पर पहुँचते ही इन कणों की बिजली का विरुद्ध बिजली द्वारा विसर्जन हो जाता है, और वे साधारण परमाणुओं के रूप में आ जाते हैं। क्लोरीन

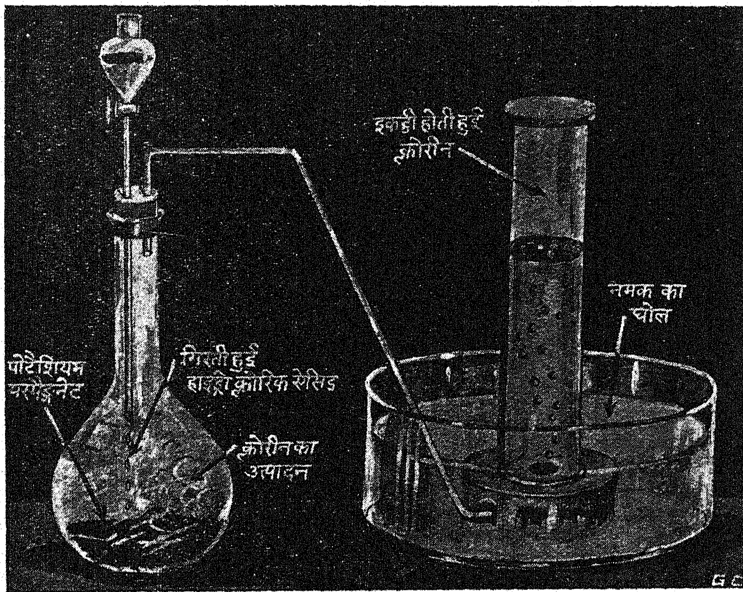


प्रयोगशाला में क्लोरीन गैस बनाने की साधारण विधि

फ्लास्क में पहले मैङ्गनीज़ डाइऑक्साइड पानी के पर्याप्त परिमाण के साथ हिलाकर मिला लिया जाता है, जिससे वह पेंदे पर जमा न रहे। ऐसा न करने पर फ्लास्क बहुधा चटक जाता है। सांद्र हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड छोड़कर मिश्रण बालुका-कुंडी पर गर्म किया जाता है, और क्लोरीन शुद्ध और शुष्क करके इकट्ठी कर ली जाती है। इसके विषाक्त होने के कारण इसे खुले स्थान अथवा हवादार कमरे अथवा धूम-कोष्ठ में तैयार करना चाहिए।

के परमाणु तो अणुओं के रूप (Cl_2) में होकर निकल जाते हैं, किन्तु सोडियम पानी के संसर्ग के कारण तुरंत कास्टिक सोडा में बदल जाता है और इस क्रिया में बनी हुई हाइड्रोजन एक दूसरे मार्ग से निकल जाती है। पहली विधि में लोहे के टैङ्क में स्थित बिजली के कोठे को नेल्सन का कोष्ठ और दूसरी में उसे कैस्टनर-केल्नर का कोष्ठ कहते हैं। दोनों ही विधियों में क्लोरीन ऐनोडो पर मुक्त होकर ऊपर इकट्ठी हो जाती है और वहाँ से नली द्वारा बाहर निकालकर बाहर भेजने के लिए इस्पात के बेलनों में शीत और दबाव के प्रभाव से द्रवीभूत करके भर ली जाती है। सोडियम ऐस्बस्टस के रंध्रों से होकर इस्पात की जाली तक पहुँचता है, और वहाँ पानी की क्रिया द्वारा कास्टिक सोडा और हाइड्रोजन का उत्पादन होने लगता है। हाइड्रोजन ऊपर से बाहर निकल जाती है, और कास्टिक सोडा का घोल नीचे एक लंबे तसले में इकट्ठा हो जाता है, जहाँ से वह निकाल लिया जाता है।

कैस्टनर और केल्नर की विधि में लोहे का टैङ्क तीन खानों में बँटा होता है (१६५१ पृष्ठ का चित्र)। टैङ्क एक ओर नीचे बँधा रहता है, किन्तु दूसरी ओर उसके नीचे एक ऐसा पहिया घूमता रहता है, जिसमें धुरी केन्द्र से हटकर लगी होती है। घूमने से टैङ्क ऊपर-नीचे झूलता है और पेंदे पर भरी पारे की एक तह को एक कोठे से दूसरे कोठे में सरकाया करता है। इधर-उधर के कोठों में नमक के घोल से क्लोरीन ऐनोडों पर मुक्त होकर बाहर निकल जाती है और सोडियम पारे के कैथोड पर विसर्जित होकर उसी में घुल जाता है। यह सोडियम-पारद मिश्रण टैङ्क के झूलने के कारण खिसककर बीच के खाने में पहुँचता है और वहाँ पानी की क्रिया द्वारा कास्टिक सोडा और हाइड्रोजन का उत्पादन होने लगता है। पारे की तह बाहरी खानों में कैथोड और बीच के खाने में ऐनोड का काम करती है। बीच के खाने में लोहे के कैथोड और पारे के ऐनोड के प्रभाव से कास्टिक सोडा के घोल का भी विद्युत् विश्लेषण होने लगता है। कास्टिक सोडा का रासायनिक नाम सोडियम हाइड्रोजन और अणु-सूत्र NaOH है। वह बिजली के प्रभाव से सोडियम के धन कणों और हाइड्रॉक्साइड (OH) के ऋण कणों में पृथक् होने लगता है। सोडियम के कण लोहे की छड़ों पर पहुँचकर कास्टिक सोडा और हाइड्रोजन का उत्पादन करने लगते हैं और OH कण पारद-सोडियम मिश्रण पर विसर्जित होकर सोडियम से संयुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार लोहे और पारे दोनों ही पर कास्टिक सोडा बनकर पानी में घुलता रहता है। पर्याप्त सीमा तक सांद्र हो जाने पर कास्टिक सोडा का घोल निकालते और पानी भरते रहते हैं।

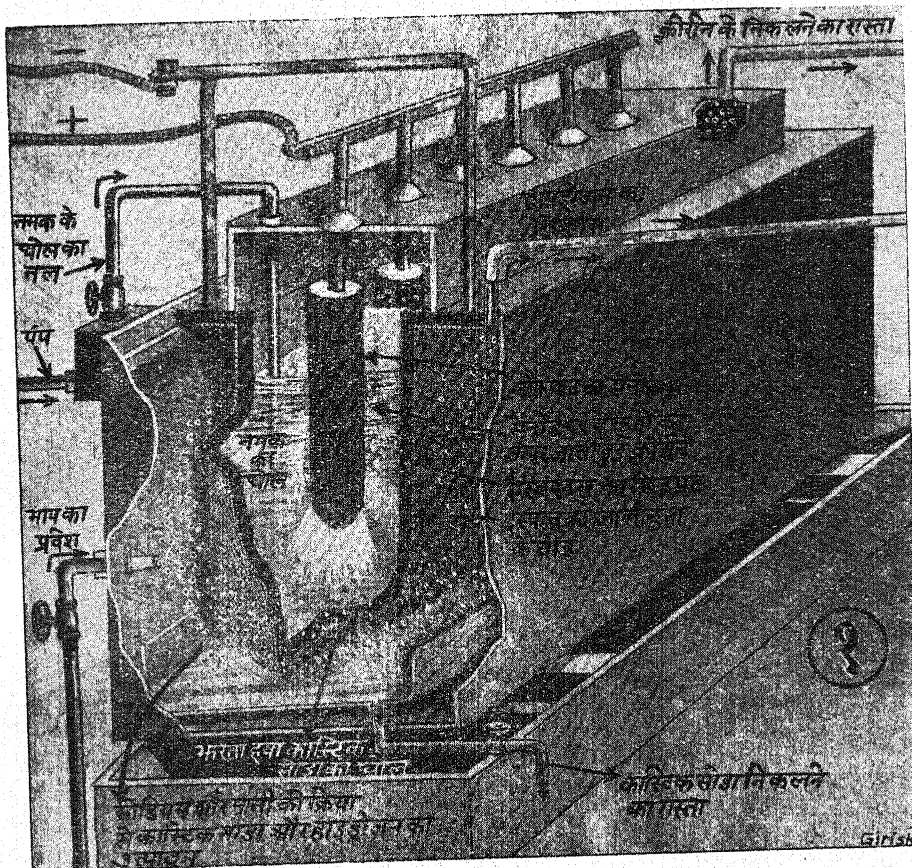


प्रयोगशाला में क्लोरीन तैयार करने की सरलतम विधि

फ्लास्क में रक्खे हुए पोटैशियम परमैङ्गनेट पर थोड़ी-थोड़ी प्रबल हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड छोड़ते जाइए। क्लोरीन गैस की धारा तेज़ी से लगातार निकलती रहेगी।

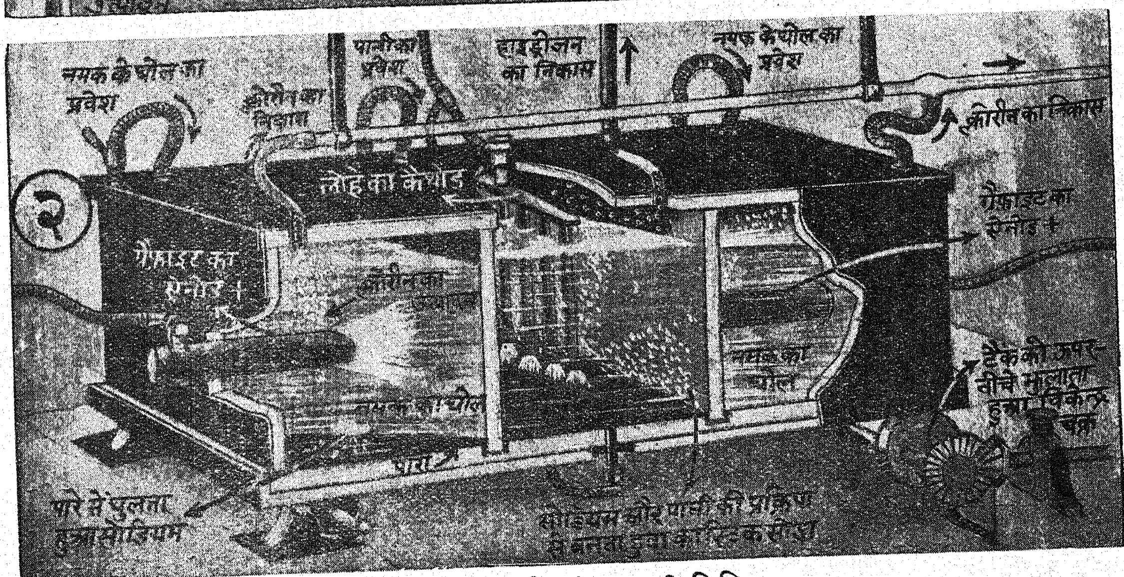
साधारण अवस्थाओं में पानी के एक आयतन में क्लोरीन के दो आयतन घुल जाते हैं, और एक हलका पीला घोल तैयार हो जाता है, जिसे 'क्लोरीन-वाटर' कहते हैं। क्लोरीन-वाटर में कीटाणुओं और रंग को नष्ट करने का गुण होता है। अतएव औषध अथवा रंगनाशक के रूप में उसका व्यवहार होता है। मोतीझाला आदि रोगों में उसका उपयोग हुआ करता है। यदि आपके कपड़े पर

नमक से बिजली द्वारा कास्टिक सोडा, क्लोरीन और हाइड्रोजन का एक साथ निर्माण



नेल्सन की विधि

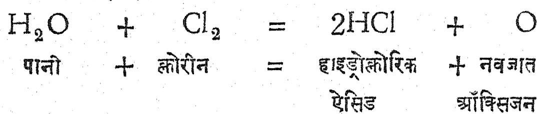
लोहे के एक टैङ्क में स्थित भीतर की ओर रंध्रमय ऐस्बस्टस से मढ़ा हुआ इस्पात की की जाली के एक चूल्हाकार हौज़ में नमक का घोल भरा रहता है। इस्पातकी जाली कैथोड और नमक के घोल में डूबे हुए ग्रैफ़ाइट के छड़ ऐनोड का काम करते है। कास्टिक सोडा नीचे एक लंबे तसले में इकट्ठा होता है, जहाँ से वह नल द्वारा निकाल लिया जाता है। हाइड्रोजन और क्लोरीन ऊपर से नलों द्वारा निकाल ली जाती हैं। नमक के घोल की कमी नल द्वारा आते हुए घोल से पूरी होती रहती है।



कैस्टनर और केलनर की विधि

एक लोहे का टैङ्क स्लेट की रंध्रहीन दीवालों द्वारा तीन ख़ानों में बँटा रहता है। इन दीवालों और पेंदे के बीच में थोड़ी-सी जगह छुटी रहती है जिसमें होकर पारे की एक तह एक ख़ाने से दूसरे में जा सकती है। ग्रैफ़ाइट के ऐनोड और नमक का घोल इधर-उधर के तथा लोहे की छड़ों का कैथोड और पानी बीच के ख़ाने में रहते हैं। क्लोरीन गैस इधर-उधर के खानों में और कास्टिक सोडा तथा हाइड्रोजन बीच के ख़ाने में बनते रहते हैं।

किसी कार्बनिक रंग का धब्बा पड़ गया है तो उसे पहले साबुन से धो डालिए, फिर रुई की एक फुरहरी द्वारा क्लोरीन-वाटर उस पर लगाइए। उसका रंग सदा के लिए उड़ जायगा। क्लोरीनवाटर में कोई रंगीन फूल अथवा कपड़ा डाल कर देखिए। कुछ ही मिनटों में वह सफ़ेद हो जायगा। यदि आप क्लोरीन गैस द्वारा ही रंग उड़ाना चाहते हों तो उसमें रंगीन वस्तु को भिगाकर डालिए, नहीं तो रंग न उड़ेगा। वास्तव में रंगनाशक क्लोरीन नहीं, बल्कि क्लोरीन और पानी का मिश्रण ही होता है। इन दोनों की रासायनिक क्रिया द्वारा उत्पन्न नवजात ऑक्सिजन ही रंग को ऑक्सीकरण द्वारा नष्ट कर देती है। देखिए न—


$$H_2O + Cl_2 = 2HCl + O$$
पानी + क्लोरीन = हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड + नवजात ऑक्सिजन

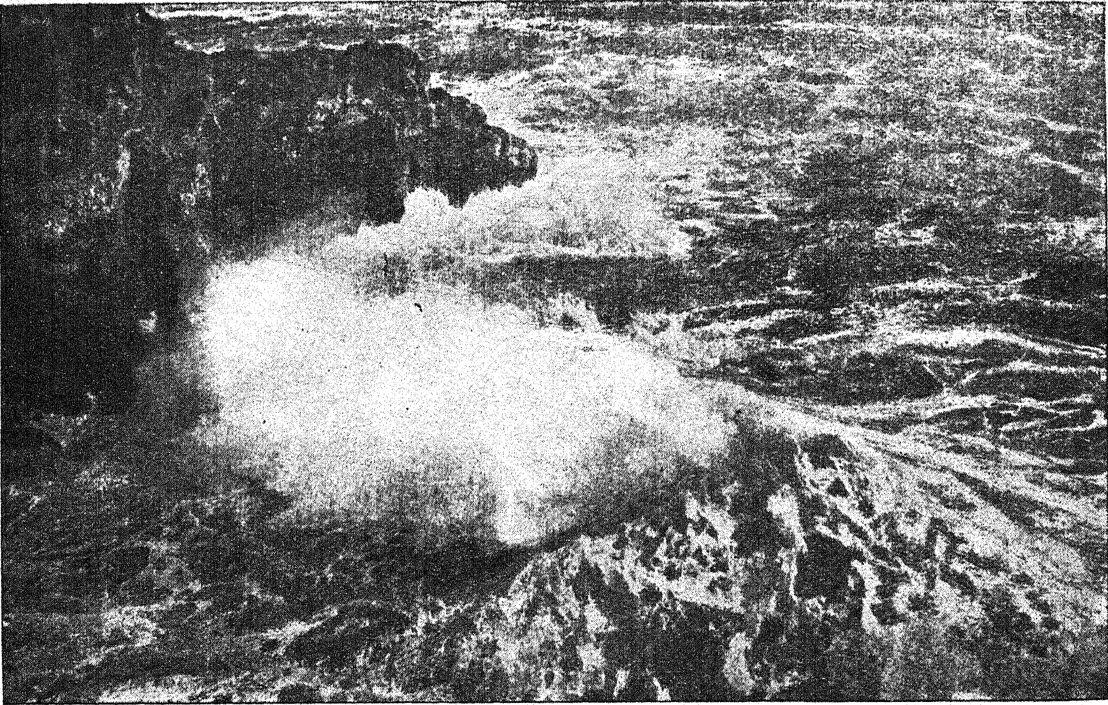
क्षारों पर क्लोरीन की क्रिया बड़ी ही महत्वपूर्ण होती है। कास्टिक सोडा, कास्टिक पोटाश और बुझे चूने के गर्म घोल में क्लोरीन बुलबुलाने से क्लोरेट नामक लवण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार कास्टिक पोटाश से पोटैशियम क्लोरेट नामक महत्वपूर्ण लवण बनाया जाता है। दियासलाई, आतशबाज़ी के मसाले और विस्फोटकों को बनाने, और रसायनशाला में ऑक्सिजन तैयार करने, आदि में इसका उपयोग होता है। गले की ख़राबी दूर करने के लिए ग़रारा करने की दवाइयों में भी यह पड़ता है। इन्हीं क्षारों के ठंडे घोल में क्लोरीन प्रवाहित करने से हाइपोक्लोराइट नामक यौगिक बनते हैं। ठंडे कास्टिक सोडा पर क्लोरीन की क्रिया से सोडियम हाइपोक्लोराइट ($NaOCl$) उत्पन्न हो जाता है। इसका घोल भी रंगनाशक होता है और इसका कपड़ों के कारख़ानों में बहुत उपयोग होता है। सूखे बुझे चूने पर क्लोरीन की क्रिया द्वारा 'ब्लीचिंग पाउडर' (रंगनाशक चूर्ण) नामक सस्ता और उपयोगी पदार्थ तैयार होता है। कपड़ों और काग़ज़ की मिलों में अधिकतर यही चूर्ण काम में लाया जाता है। जिस किसी मैली वस्तु को बिलकुल सफ़ेद और साफ़ कर देना होता है उसे 'ब्लीचिंग पाउडर' ($CaOCl_2$) के घोल में पहले डुबाते हैं। फिर उसे बहुत ही हलके गंधक अथवा नमक के तेज़ाब में डुबाते हैं। तेज़ाब की क्रिया से ब्लीचिंग पाउडर से क्लोरीन का उत्पादन हो जाता है और यह क्लोरीन पानी के साथ नवजात आक्सिजन को मुक्त करके कपड़े के मैल का नाश कर देती है। रेशों में बची हुई क्लोरीन के रह जाने से वे कमज़ोर हो जाते हैं, अतएव इस क्लोरीन का नाश सोडियम थाइ-सल्फ़ेट अथवा 'हाइपो' के घोल द्वारा कर दिया जाता है। अंत में यह क्लोरीननाशक भी पानी से अच्छी तरह धोकर निकाल दिया जाता है। क्लोरोफ़ॉर्म का निर्माण भी ब्लीचिंग पाउडर के ही उपयोग से होता है। अभी दो वर्ष पहले युद्ध के छिड़ने पर भारतवर्ष में बाहर से क्लोरीन के सिलिंडरों का आना कम हो गया। इसलिए हमारे देश के अनेक शहरों की म्यूनिसिपैलिटियों के सामने एक समस्या खड़ी हो गई। बहुतों ने तो जनता को यह सूचना दे दी कि उनके लिए पानी को शुद्ध करके भेजना असंभव है, अतएव जो लोग मोतीझाला (टाइफायड) आदि रोगों से अपने को पूर्णतः सुरक्षित रखना चाहें वे नल का पानी उबाल कर पिएँ। हमारे देश में न नमक की कमी है और न गंधक के तेज़ाब अथवा मैङ्गनीज़ डाइ-ऑक्साइड की ही। हिमालय की कृपा से बिजली भी कौड़ियों के दामों उत्पन्न की जा सकती है; फिर भी हमारे लिए इतना असहाय हो जाना वास्तव में शोचनीय है।

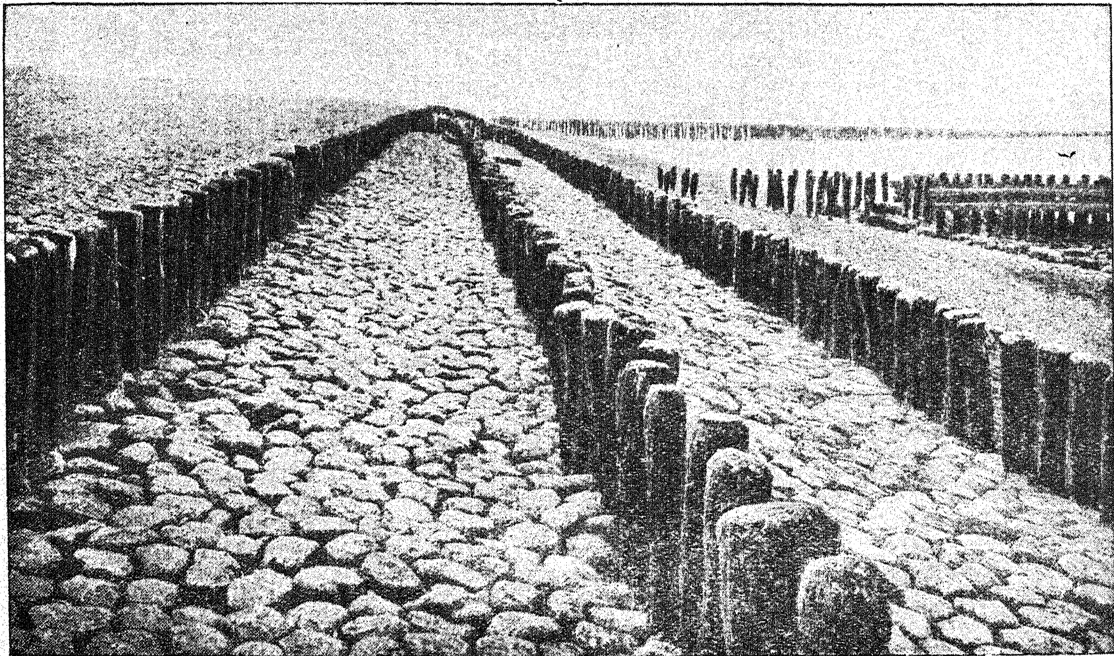
आक्सिजन की भाँति क्लोरीन से भी प्रायः सभी तत्व संयुक्त होकर क्लोराइड नामक यौगिकों में परिवर्तित हो जाते हैं। हाइड्रोजन क्लोरीन में अथवा क्लोरीन हाइड्रोजन में जलकर हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस का उत्पादन करती है। हाइड्रोजन और क्लोरीन का मिश्रण धूप में अथवा मैग्नेशियम आदि के तेज़ प्रकाश में ही रखने से विस्फुटित होकर हाइड्रोजन क्लोराइड गैस में बदल जाता है। फ़ास्फ़ोरस भी क्लोरीन में अपने आप ही पिघलकर जल उठता है। इसी प्रकार यदि सोडियम अथवा ताँबे का एक पत्तर गर्म करके क्लोरीन में डाला जाता है तो जलने लगता है। ऐंटिमनी अथवा आर्सनिक धातु का चूर्ण क्लोरीन के जार में छिटकाने से अपने आप ही जलने लगता है। लोहा, अलुमीनियम, जस्ता आदि अनेकों धातु जब क्लोरीन की धारा में गर्म किये जाते हैं तो उससे संयुक्त होकर क्लोराइडों में बदल जाते हैं। अनेक क्लोराइड लवण इसी प्रकार बनाए जाते हैं।

हाइड्रोजन और कार्बन के यौगिक यथा मोम, तारपीन का तेल आदि भी क्लोरीन में जलकर हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस उत्पन्न करते और कार्बन काले धुएँ के रूप में निकालते हैं। इसे देखने के लिए जलती हुई मोमबत्ती को दीप-चमची द्वारा क्लोरीन के जार में डालिए। छन्ना काग़ज़ अथवा रुई को गर्म तारपीन के तेल में भिगोकर क्लोरीन के जार में डालने से वह जल उठता है।



पृथ्वी की कहानी





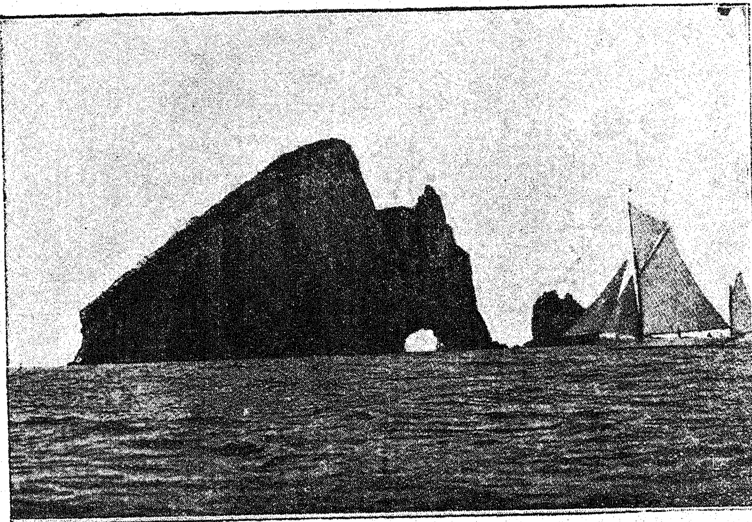
(ऊपर) जहाँ-जहाँ भी जलमंडल और स्थलमंडल की सीमाएँ मिलती हैं वहाँ हम उन्हें एक दूसरे के साथ संघर्ष कर अपना-अपना साम्राज्य-विस्तार करने में निरंतर प्रयत्नशील देखते हैं। उधर उन्मत्त सागर अपनी उत्ताल तरंगों द्वारा तट की भूमि पर आक्रमण कर उसे काटते-छाँटते हुए अधिकाधिक स्थल में घुसने की कोशिश करता रहता है; इधर भूमि चट्टानों की चूरचार और नदियों द्वारा बहाकर लाई हुई मिट्टी से सागर को पाटने का अनवरत प्रयास करती रहती है। (नीचे) सागर के प्रचण्ड प्रहार से धरती को बचाने के लिए कहीं-कहीं मनुष्य को भगीरथ प्रयत्न करना पड़ा है। इस चित्र में हालैण्ड देश में लट्ठों और पत्थरों द्वारा निर्मित किए गए उन विशाल बाँधों में से एक का दृश्य है, जिनके द्वारा तटवर्त्ती नीची भूमि को समुद्र के आक्रमण से बचाने का प्रबंध वहाँ के निवासियों ने किया है।



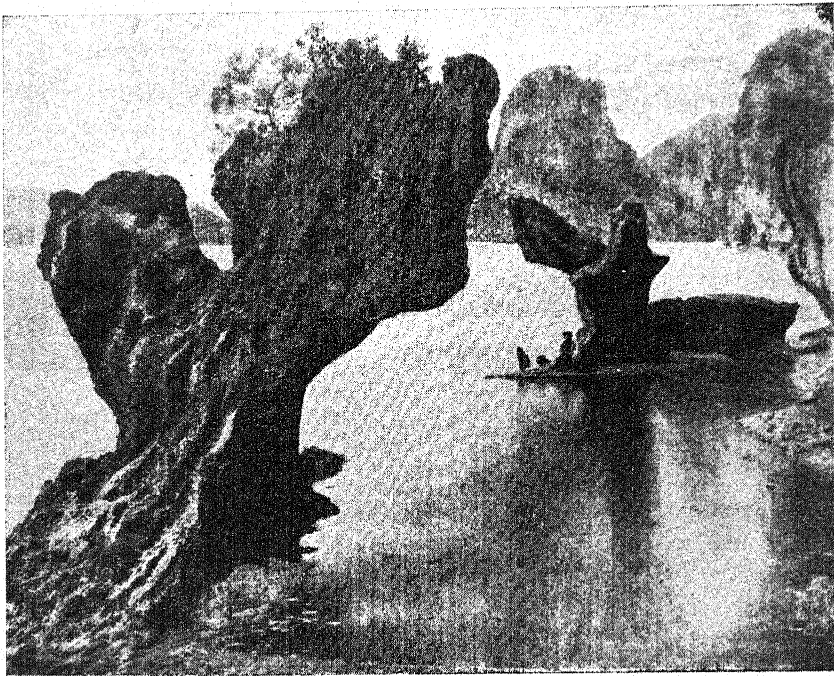
सागर द्वारा स्थल का क्षय

जलमण्डल के बाहर जितना भी सूखा प्रदेश है, उस पर सागर का आक्रमण निरन्तर और विविध रूपों में होता रहता है। आक्रमण के रूप विभिन्न होते हुए भी उनका ध्येय यही रहता है कि या तो स्थलमण्डल को किसी प्रकार डुबाकर जलमण्डल के अन्तर्गत कर दिया जाय और यदि यह सम्भव न हो सके तो स्थलमण्डल पर प्रति क्षण इस प्रकार भीषण प्रहार किया जाय कि वह कण-कण में बिखर जाय और बिखरे हुए कण जलमण्डल के भीतर समा जायँ। आइए, देखें सागर का आक्रमण किस प्रकार होता है और उसके प्रहार का क्या प्रभाव पड़ता है।

सागर का क्षयात्मक कार्य सागर-तट की भूमि तक ही सीमित रहता है। ज्वार के सर्वोच्च स्थान से भी अधिक ऊँचाई तक सागर के आक्रमण का विस्तार रहता है। सागर के आक्रमण के फलस्वरूप सागर-तट की रेखा क्रमशः स्थल की ओर बढ़ती जाती है। स्थल की ओर बढ़ने की गति विभिन्न परिस्थितियों पर निर्भर रहती है। बलुई नीची भूमि शीघ्र ही सागर के अधीन हो जाती है। ऊँचे कठोर शिलाखण्डों वाले कगार धीरे-धीरे नष्ट हो पाते हैं। इस प्रकार के तट की भूमि की विध्वंस की गति सागर की तरंगों और हिलोरों की शक्ति पर निर्भर रहती है। वायु द्वारा उत्पन्न सागर की तरंगें निरन्तर तट की भूमि से टकराती रहती हैं, परन्तु विभिन्न स्थानों और विभिन्न समयों पर उनकी शक्ति में अन्तर रहता है। स्काटिश लाइट हाउस बोर्ड के मतानुसार अटलांटिक-तट की तरंगों का दबाव औसत ग्रीष्म ऋतु के पाँच महीनों में ६११ पौंड प्रति वर्ग फ़ुट रहता है। यही शक्ति शीतकाल के ६ महीनों में २०८६ पौंड हो जाती है। सबसे अधिक ज़ोर ६०८३ पौंड प्रति वर्ग फ़ुट नापा गया है। पूर्वी तट पर जल का प्रहार ६००० पौंड से भी अधिक शक्तिशाली होता है। इतनी शक्तिशाली तरंगों की चोटों का प्रभाव भी बड़ा अद्भुत होता है। १८३६ ई० में एक भीषण आँधी के वेग से उठनेवाली तरंगों ने फ्रांस के तट पर २० फ़ीट ऊँची दीवाल के ऊपर से ३½ टन भारवाले पत्थर बहा दिए थे। इसी प्रकार हालीहेड नामक बन्दरगाह के सामने हिलोरें रोकनेवाली दीवाल में लगे हुए बड़े भारी-भारी पत्थर आँधी के वेग से उठनेवाली तरंगों ने बात-की-बात में इधर-उधर छितरा दिए। इस प्रकार की असंख्य दुर्घटनाओं की सूची इतनी लम्बी है कि समाप्त ही होने को



ऑस्ट्रेलिया के तट के समीप समुद्र द्वारा कोरी गई एक पहाड़ी चट्टान का दृश्य। किसी समय यह भाग मुख्य तट से जुड़ा था, किंतु समुद्र ने उसे काटकर अलग कर दिया है।



समुद्र द्वारा स्थल के क्षय का एक और उदाहरण

ये अजीब शक्ल की चट्टानें समुद्र की लहरों के थपेड़े खा-खाकर ही ऐसी बन गई हैं।

एक बार तूफ़ान से उत्पन्न लहरों ने एक प्रकाश-स्तम्भ से १४ टन के भारवाले पत्थर तोड़कर बहा दिए और सो भी उस स्थान से जो ज्वार के सर्वोच्च स्थान से ३७ फ़ीट अधिक ऊँचा था। इसी प्रकार इँगलिश चैनेल के बिशप की चट्टानवाले प्रकाश-स्तम्भ से ३२५ पौंड का घंटा सागर के जल से १०० फ़ीट ऊँचे स्थान से लहरों द्वारा तोड़कर बहा दिया गया था।

लहरों के विध्वंस-कार्य में सबसे अधिक सहायता चट्टानों में पाई जानेवाली दरारों और जोड़ों से मिलती है। चट्टानों की इन दरारों तथा जोड़ों में जल या वायु भरी रहती है। तूफ़ान के साथ उठनेवाली लहरें जब तटवर्तीय चट्टानों से टकराती हैं तब उनकी दरारों में भरी वायु तथा जल दोनों ही संकुचित हो जाते हैं। जिस प्रकार लकड़ी चीरने में फन्नी काम करती है उसी प्रकार चट्टानों की दरारों में यह संकुचित वायु चट्टानों को छिन्न-छिन्न करने में उपयोगी होती है। लहरों के वेग से आने से अत्यधिक भार के कारण दरारों की वायु दबकर बहुत संकुचित हो जाती है। जैसे लहरें हटती हैं, दबी हुई वायु को स्वतंत्रता मिल जाती है और वह एकदम फूल जाती है। वायु के एकदम फूल जाने से जो विकट शक्ति उत्पन्न होती है वह भयंकर विस्फोटक के समान चट्टानों को चूर-चूर कर देने के लिए पर्याप्त है।

किसी प्रदेश का सागरतटवर्ती स्थल कितनी शीघ्रता से नष्ट हो सकता है यह किनारे की चट्टानों की कठोरता पर निर्भर है। इसके साथ ही यह बात भी अत्यन्त महत्व रखती है कि चट्टानों के पर्त (यदि चट्टानें पर्तीली हैं) खड़े हैं या आड़े-तिर्छे। चट्टानों के पर्तों की बनावट का

नहीं आएगी। स्थानाभाव से हम यहाँ पर केवल एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण घटना का वर्णन करेंगे। यह दुर्घटना स्काटलैंड के उत्तरी-पूर्वीय छोर के विक नामक स्थान पर घटी थी। सागर के जल के थपेड़ों से रक्षा करने के लिए बन्दरगाह के सामने कंकरीट का एक विशाल स्तूप-सा बनाया गया था। इस स्तूप को स्थिर रखने के लिए बड़े भारी-भारी शिला-खण्डों को साढ़े तीन इंच मोटी लोहे की छड़ों से बाँधकर लंगर डाला गया था। १८७३ ई० के दिसम्बर मास में कंकरीट का यह विशाल पिंड, जिसका भार १३५० टन से अधिक था, सागर की लहरों द्वारा फूल की भाँति उठाकर फेंक दिया गया। उसके स्थान पर उससे भी अधिक भारी २६०० टन का पिंड रक्खा गया, परन्तु यह भी १८७७ ई० के एक तूफ़ान की लहरों द्वारा बहा दिया गया!

भीषण तूफ़ान के दिनों में समुद्र की लहरों में जिस दैवी शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है, उसके वेग को रोकने की सामर्थ्य बिरली ही वस्तुओं में होती है। इन लहरों की पहुँच ज्वार की सर्वोच्च जलरेखा से भी परे तक होना साधारण-सी बात है। स्काटलैंड के पश्चिमी तट पर

प्रभाव केवल स्थल-तट के क्षय होने की गति पर प्रभाव डालता है उसको क्षय होने से बचाने में नहीं। सागर की लहरों की चोट से विनाश तो होता ही रहता है। अन्तर पड़ता है केवल शीघ्रता या देरी होने में।

जिस प्रकार नदी की प्रक्रिया उसके जल के साथ बहनेवाले रोड़ों-पत्थरों और बालू-कंकड़ों आदि के घर्षण से होती है उसी प्रकार सागर की लहरों के साथ आनेवाले पत्थर-रोड़े आदि भी किनारों की चट्टानों पर आघात करने में बड़ी सहायता पहुँचाते हैं। इनका काम वैसा ही होता है जैसे तोपों के गोलों की मार का क़िलों की दीवालों को नष्ट करने में।

लहरों के आक्रमण का आघात सबसे अधिक आधारवाली शिलाओं पर होता है। इस आघात के कारण चट्टानों के आधार के अंश शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं और ऊपर का भाग धीरे-धीरे आगे बढ़कर लटकने-सा लगता है जो कालान्तर में अपने ही भार के कारण विखण्डित होकर गिर जाता है। ऊँची-ऊँची चट्टानोंवाले कगारों पर लहरों की मार से कभी-कभी चट्टानों के निचले भाग एकदम खोखले हो जाते हैं और एक प्रकार की गुफाओं की रचना हो जाती है। लहरों का जल आकर इन गुफाओं में बड़े वेग से भर जाता है, जिससे गुफा की वायु दबकर जिस ओर भी मार्ग मिलता है उस ओर से निकल भागने की कोशिश करती है। यदि चट्टानों में कोई दरार पड़ जाती है, तो उसी मार्ग से दबी हुई वायु बड़े वेग से बाहर निकल जाने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार की दरार जल के दबाव से कभी-कभी बहुत अधिक बढ़ जाती है और वायु के साथ-साथ जल भी बड़ी तेज़ी से दरार के बाहर निकलने लगता है। दरार से निकलता हुआ जल बड़े भारी फ़व्वारे के रूप में बहता है। धीरे-धीरे फ़व्वारे का मुख चौड़ा हो जाता है और उसके चारो ओर की चट्टानों के खण्ड टूटकर गिरने से उसको बहुत अधिक विस्तृत हो जाने का अवसर मिल जाता है। फल यह होता है कि एक दिन सागर से स्थल की ओर आर-पार एक सुरंग तैयार हो जाती है, जिस पर चट्टानों के अव-



ऑस्ट्रेलिया की एक तटवर्ती आखात में ज्वार-भाटे की क्रिया द्वारा क्षत-विक्षत चट्टानों का एक दृश्य

शिष्ट अंश का प्राकृतिक पुल लटका रहता है। कहीं-कहीं सागरतटवर्त्तीय चट्टानों में इस प्रकार से बनी सुरंगें आध मील से एक मील तक की लम्बाई की पाई जाती हैं !

सागर की तट-रेखा अधिकांश वक्र होती है। परन्तु जसे-जैसे चट्टानों का अस्तित्व मिटता जाता है और तट-वर्त्तीय स्थल सपाट होता जाता है, तट की रेखा भी सीधी होती जाती है।

सागर की लहरों के क्षयात्मक कार्य में चट्टानों की बना-वट के साथ-ही-साथ लहरों के आक्रमण की दिशा भी अपना प्रभाव डालती है। तट पर चोट करनेवाली लहरें जब एक कोने से आकर टकराती हैं तब उनकी चोट उतना असर नहीं करती, जितना सीधे समकोण पर आनेवाली लहरें।

सागर-तट की चट्टानों के क्षय हो जाने से तट की रेखा पीछे हट जाती है। परन्तु सागर के जल में कहीं-कहीं पुरानी तट-रेखा के कठोर अंश पिरामिडनुमा टीलों के रूप में रह जाते हैं, जो पुराने तट के अस्तित्व की याद दिलाते हैं। स्कॉटलैण्ड और आयरलैण्ड के तट पर इस प्रकार के टीले विशेष रूप में देखने में आते हैं। दूर से इनको देखकर दक्षिण भारत के मन्दिरों की आकृति याद आ जाती है। परन्तु इनके स्थापत्य में किसी मनुष्य का हाथ नहीं लगा। प्रकृति ने स्वयं ही इनको अपने हाथों गढ़ा है।

कहीं-कहीं सागर की लहरों के द्वारा तटवर्त्तीय स्थल कट-पिटकर एकदम मैदान बन जाता है। इस प्रकार के मैदान बहुधा संकीर्ण होते हैं। नार्वे के पश्चिमी तट पर इसी प्रकार का ऊँचा मैदान है, जिसकी चौड़ाई लगभग २५ मील है। स्पेन के उत्तरी तट पर भी इसी प्रकार का दस मील चौड़ा मैदान है। भारत के पूर्वीय तट पर भी ऐसे मैदान की साठ मील चौड़ी पट्टी है।

सपाट और नीचे तटवर्त्तीय स्थल पर सागर का क्षयात्मक प्रभाव कम होता है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के स्थल बहुधा नदियों के मुहानों पर नदियों की लायी हुई मिट्टी और बालू से बने होते हैं। परन्तु तूफ़ान के द्वारा उठी हुई लहरों के प्रभाव से ऐसी भूमि भी नष्ट होने से नहीं बचती। हालैंड और जर्मनी की उत्तरी तटवर्त्तीय रेखा इस प्रकार के तूफ़ानों के प्रभाव से बराबर पीछे हटती जाती, यदि उसको रोकने के उचित उपाय न किये गये होते। अमेरिका का कहीं-कहीं का बालुकामय तट कट-कटकर आज कहीं-का-कहीं पहुँच गया है।

जिस प्रकार नदियों और हिमानियों के द्वारा बहा लाये गये पत्थरों के ढोके धरातल के क्षय में सहायक होते हैं और धीरे-धीरे स्वयं घिस-घिसाकर कणों में परिवर्त्तित हो जाते हैं, उसी प्रकार सागर-तट से विखण्डित हुए शिला-खण्ड लहरों द्वारा उछाले, पटके और बहाये जाकर चूर-चूर होते रहते हैं, साथ ही तट के स्थल पर चोट करते हुए उसे क्षत-विक्षत भी करते हैं। सागर-तट की चट्टानों के नीचे चूर-चार का ढेर कभी जमा नहीं हो पाता है। विशाल-से-विशाल शिलाखण्ड भी सागर की विकराल लहरों द्वारा निगल लिये जाते हैं और शीघ्र ही लहरों की गर्जन-तर्जन के साथ गेंद की भाँति उछलते हुए किनारे से आकर टकराते हैं।

विशाल शिलाखण्ड इस प्रकार के आघातों-प्रतिघातों के फलस्वरूप छोटे-छोटे खण्डों में बिखर जाते हैं और ये खण्ड धीरे-धीरे रोड़ों के रूप में चूर हो जाते हैं। रोड़े कालान्तर में बालू और बजरी में बिखर जाते हैं। स्फटिक को छोड़कर अन्य सभी खनिज तथा स्फटिक का भी एक पर्याप्त अंश पिसकर कीचड़-सा बन जाता है और बहकर गहरे जल की तह में बैठ जाता है।

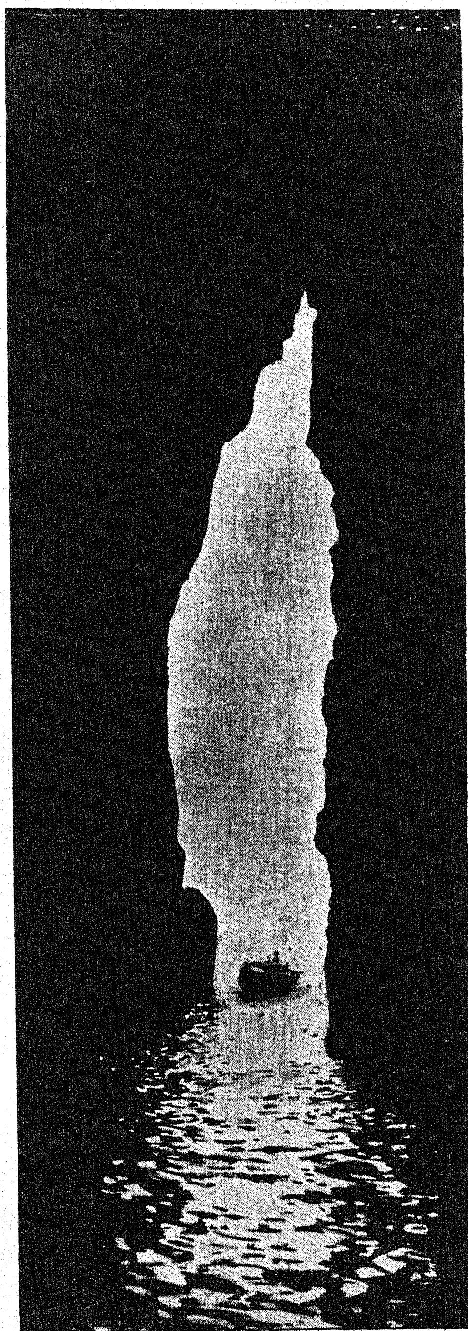
इस प्रकार सागर का जल सदैव तटवर्त्तीय स्थल को अपने अधीनस्थ करने में लगा रहता है। नरम और क्षीण चट्टानों पर तो इसका प्रभाव शीघ्र पड़ता है, परन्तु कठोर-से-कठोर चट्टान भी लहरों की थपेड़ों और कंकड़-पत्थर की बौछार के आगे हार मान लेती है और कालान्तर में घिस-घिसकर अथवा टूट-टूटकर विनष्ट हो जाती है। सागर की लहरों की मार और उसके साथ में रोड़ों-पत्थरों की गोलियों की बौछार के निरन्तर पड़ते रहने पर भी समस्त स्थल जलमग्न क्यों नहीं हो जाता, इसका कारण यह है कि सागर की क्षयात्मक और विनष्टकारी लीला के साथ-ही-साथ प्रकृति उसके प्रभाव को कम करने के उपाय भी रचती जाती है।

सागर की लहरें किनारों की चट्टानों को काट-काटकर इतना नीचा कर देती हैं कि सागर का जल उस स्थल पर बिना प्रयत्न किये ही बह सकता है, अर्थात् स्थल का तल सागर के जल-तल के लगभग समतल हो जाता है। इस अवस्था पर पहुँच जाने पर तटवर्त्तीय भूमि पर लहरों का आक्रमण होना समाप्त हो जाता है और इस भूमि पर बजरी, बालू और भुरभुरी मोटे कणवाली कीच जमा हो जाती है। यह तह इसी भूमि की अन्य विविध प्रतिक्रियाओं से रक्षा करती है।

सागर की तटवर्त्तीय भूमि पर लहरों की मार-तोड़ का ध्येय यही प्रतीत होता है कि ऊँचे चट्टानों को नष्ट करके समतलीय चबूतरों के रूप के मैदान बना दिये जायँ। परन्तु इन मैदानों के बनाने में वास्तव में सबसे अधिक कार्य वातावरण द्वारा सम्पन्न होता है। समुद्र के किनारे खड़े होकर लहरों की प्रक्रिया पर ध्यान देने से ही ज्ञात हो जाता है कि जलमण्डल किस प्रकार सदैव कार्य-व्यस्त रहता है। परन्तु उसके कार्यक्षेत्र की सीमा से परे मौसमी अवयवों की सहायता से ही क्षयात्मक कार्य होता रहता है।

समुद्र की लहरों की चढ़ाई के फलस्वरूप चट्टानों के क्षत-विक्षत होने से जो चूर-चार बनती है उसका हटना भी आवश्यक है। यदि वह हटाई न जाय तो चट्टान के ऊपर पर्त के रूप में जमा होकर चट्टानों को अधिक क्षतविक्षत होने से बचाती रहे। लहरों के पीछे हटते समय यह चूरचार गहरे समुद्र की ओर बढ़ती रहती है। भाटे की लहरें भी चट्टानों की चूर-चार को किनारे से खींचकर गहरे सागर में पहुँचा देती हैं।

छिछले पानी में लहरों की प्रतिक्रिया तलहटी में जमी बालू और बजरी पर भी होती रहती है। कभी जल का रेला बालू-मिट्टी और बजरी को स्थल की ओर ले दौड़ता है, परन्तु उसी क्षण लौटनेवाली लहर इस सामग्री को समुद्र की ओर बहा ले जाती है। इस प्रकार हिलने-डुलने की प्रतिक्रिया होते रहने पर भी अधिकांश पदार्थ समुद्र की गहराई की ओर ही जाता है। मोटी बजरी और कंकड़ को समुद्र की ओर से आनेवाली लहर स्थल पर ला पटकती है। परन्तु महीन बालू और मिट्टी लौटते हुए पानी के साथ बहकर जल की ओर चली जाती है। यही कारण है कि समुद्र-तट पर अधिकांश स्थानों पर मोटे रोड़े और बजरी ही बिछी मिलती है। परन्तु जब चट्टानों की चूर-चार और छीलन इतनी प्रचुर होती है कि लौटनेवाले पानी के साथ बहकर आनेवाली सामग्री की अपेक्षा स्थल की ओर जानेवाली सामग्री अधिक होती है तब महीन बालू भी तट की ओर आ जाती है और तट की भूमि पर बिछ जाती है।



सागर की लहरों की क्रिया-प्रतिक्रिया से तटवर्त्ती कगार में आरपार बनी हुई एक गुफा

इस प्रकार तटवर्त्तीय भूमि पर जमा होनेवाली बालू और बजरी तथा कंकड़ अस्थाई होते हैं, क्योंकि तट पर अधिक सामग्री जमा हो जाने से तट की भूमि ऊँची होने लगती है और तट के नीचे जल की गहराई अधिक हो जाती है। फलस्वरूप जल की लहरों में बहाकर लाने की शक्ति कम हो जाती है। लौटनेवाले जल की प्रतिक्रिया से तट की जमा सामग्री फिर धीरे-धीरे कट-कटकर गहरे जल में पहुँच जाती है।

इस प्रकार धीरे-धीरे स्थाई रूप से जमा हुई चट्टानों की चूर-चार फिर समुद्र के इतने गहरे जल में जमा हो जाती है, जहाँ पर कि लहरों का प्रभाव असम्भव हो जाता है। इस स्थान पर पहुँचकर इस पदार्थ की यात्रा समाप्त हो जाती है। इस स्थान

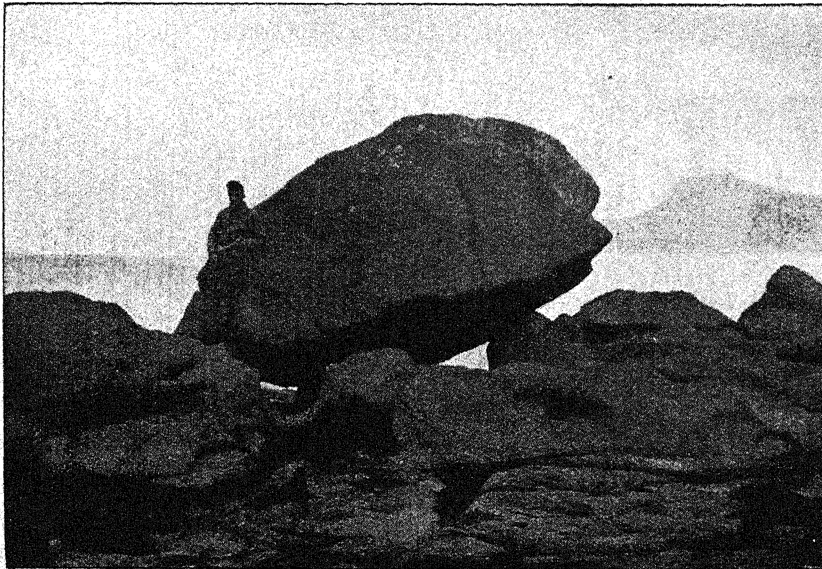
से इसका एक प्रकार से नया जीवनचक्र आरम्भ होता है।

समुद्र-तट की रचना समुद्र की लहरों की प्रतिक्रिया के साथ-साथ चिप्पड़ के नीचे दबने या ऊपर उठाने से भी होती है। तटवर्ती भूमि के अचानक नीचे हो जाने से नीची भूमि पर जल का आधिपत्य हो जाता है। यदि तट की चट्टानें नरम और भुरभुरी हुईं तब तो शीघ्र ही सागर के जल के वेग से तट की भूमि कट-कटकर सागर में समा जायगी। इस प्रकार सागर-तट का आकार निरन्तर बदलता रहता है। नरम चट्टानें शीघ्र ही कट-कटकर पानी के साथ बह जाती हैं, परन्तु नदियों के द्वारा बहाकर लाया हुआ पदार्थ उनके मुहानों में जमा होकर सागर को पाटता रहता है। परन्तु यदि तट की भूमि की चट्टानें कठोर और संकीर्ण घाटियोंवाली होती हैं तब उनको काटना सहज नहीं होता। नार्वे और पश्चिमी स्कॉटलैण्ड का तट इसी प्रकार धीरे-धीरे नीचा होता जाता है।

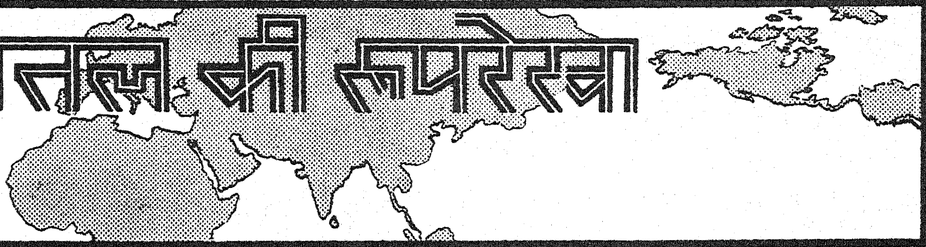
तट के समीप कहीं-कहीं भूमि ऊपर उठने लगती है। जब भूमि ऊपर उठने लगती है, समुद्र में दबा हुआ स्थल भाग जल के ऊपर निकल आता है और पुराने तट के समीप इस भूमि पर दलदल की पट्टी हो जाती है। कालान्तर में यह संकीर्ण मैदान की पट्टी के रूप में तट की भूमि बनाती है। ऐसे मैदान समुद्र की ओर तो थोड़े ढालू होते हैं और स्थल की ओर ऊँची चट्टान से घिरे रहते हैं। इन मैदानों को शीघ्र ही नदियाँ अपनी धाराओं से काट-कर बहा देती हैं अथवा इनमें इस्चुयेरी बना देती हैं।

पृथ्वी के चिप्पड़ की तोड़-मरोड़ तथा सिकुड़न से भी समुद्र-तट की बनावट में अधिक अन्तर पड़ जाता है। इस प्रकार की घटना के फलस्वरूप समुद्र की तलहटी के कुछ अंश के अचानक ऊपर उठ जाने से पर्वतों का जन्म होता है। इन पर्वतों की चोटियाँ जल के बाहर निकलकर द्वीपों के रूप में दिखाई देती हैं। पश्चिमी द्वीपसमूह तथा एशिया के पूर्वीय तट पर इसी प्रकार के द्वीप पाये जाते हैं। इस तोड़-मरोड़ के फलस्वरूप कहीं पर तो द्वीपों की रचना हो जाती है और कहीं स्थल-प्रदेश के दबने से तट की रूपरेखा बदल जाती है। यह विश्वास किया जाता है कि एशिया का पूर्वीय तट इसी प्रकार दबकर समुद्र में चला गया है और इसी से जापान सागर की रचना हुई है। इंगलैण्ड में प्रति वर्ष थोड़ी-बहुत भूमि सागर के अंतर्गत हो जाती है। इंगलैण्ड के पूर्वीय तट के सागर में अनेकों सुन्दर नगर, गाँव और बन डूबे पड़े हैं।

समुद्र की लहरों द्वारा क्षयात्मक कार्य करने की शक्ति केवल तटवर्त्तीय स्थल की चट्टानों तक ही सीमित रहती है। छिछले जलवाले प्रदेश पर भी इनका प्रभुत्व रहता है, परन्तु जल की गहराई के बढ़ने के साथ-साथ लहरों की क्रियाशीलता नष्ट हो जाती है। कितनी गहराई पर लहरों की क्रियाशीलता एकदम नष्ट हो जाती है, इस सम्बन्ध में सब वैज्ञानिकों की एक राय नहीं है। कुछ लोग समझते हैं कि ६००–६५० फीट की गहराई पर लहरों का असर तनिक भी नहीं होता। परन्तु ज्वार-भाटे की लहरों की शक्ति का प्रभाव इससे भी अधिक गहराई तक होता है। ये तलहटी की मिट्टी, बालू, बजरी को खरोंच और समेटकर अधिक गहराईवाले प्रदेश की ओर ले जाती हैं।



(बाईं ओर) ४० टन वज़न का एक शिला-खण्ड जो सागर की एक शक्तिशाली लहर द्वारा समुद्रतल से १६० फ़ीट ऊँचे उछालकर पहुँचा दिया गया है!



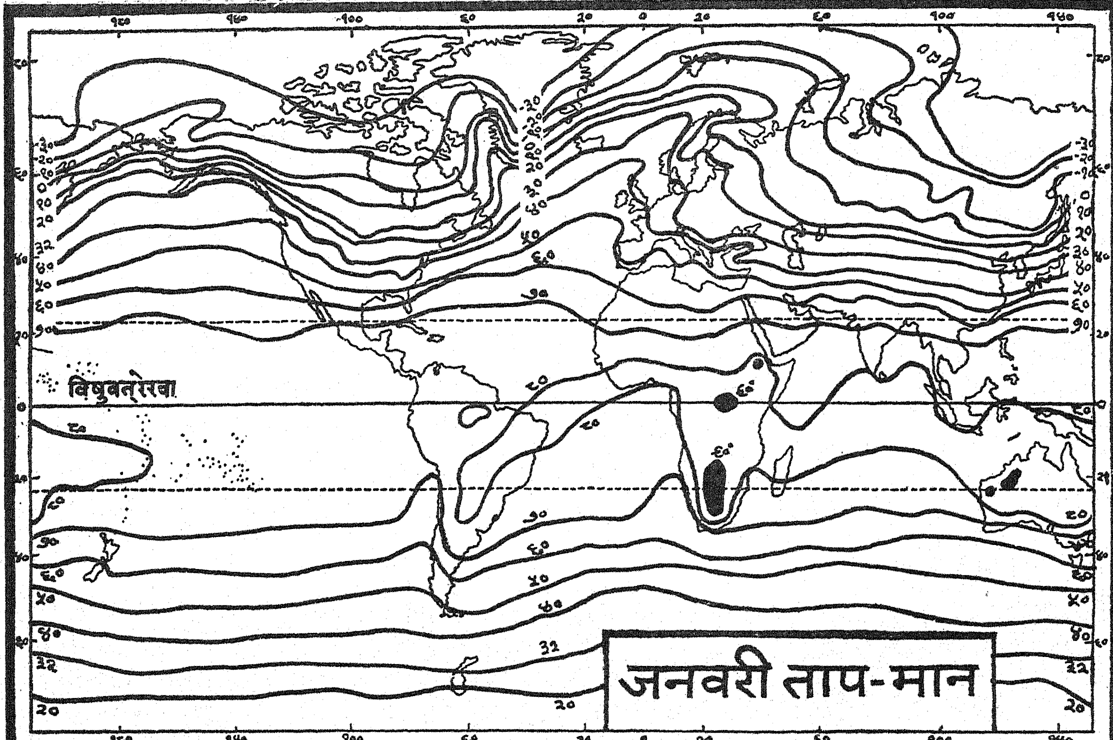
मौसम और जलवायु

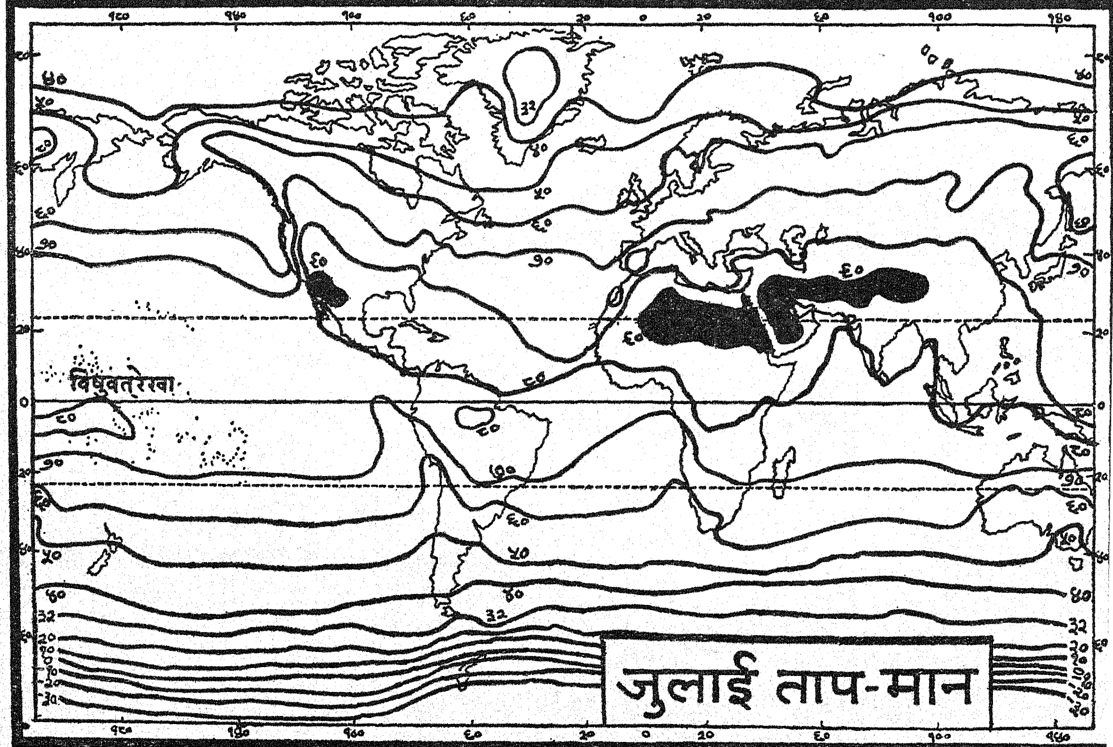
१—धरातल के विभिन्न प्रदेशों की वायु के ताप-क्रम और वायु-भार का अध्ययन—पृथ्वी के ताप भाग

वायुमण्डल के विषय में हमने बताया था कि वह परिवर्त्तनशील और अस्थिर है। हल्केपन के कारण उसे इधर-उधर आने-जाने में बड़ी स्वतंत्रता है। वायु जल और स्थल के बीच सदा घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखती है, क्योंकि वह स्थल से जल की ओर और जल से स्थल की ओर सदा आया-जाया करती है। इस बात का प्रभाव हमारे जीवन पर बहुत गहरा पड़ता है। इससे प्रत्येक स्थान की वायु बदलती रहती है। हम देखते हैं कि वायु कभी ठण्डी रहती है, कभी बहुत गरम और कभी साधारण तापक्रमवाली। कभी तेज़ी से चलती है और कभी मन्द-मन्द। कभी उत्तर की ओर से वायु के झोंके आते हैं कभी पूर्व की ओर से। कभी सूखी हवा चलती है तो कभी आर्द्र वायु। वायुमण्डल में इस प्रकार के अनेकों परिवर्त्तन प्रति क्षण होते रहते हैं परन्तु हम उन सबको जान भी नहीं पाते। केवल उन्हीं परिवर्त्तनों से हम अधिकतर परिचित हैं जिनका हमारे जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। इन परिवर्त्तनों का निरीक्षण करना हमारे दैनिक जीवन का कार्यक्रम हो गया है, क्योंकि हमारे दैनिक जीवन में इनसे बहुत उलट-फेर होता रहता है।

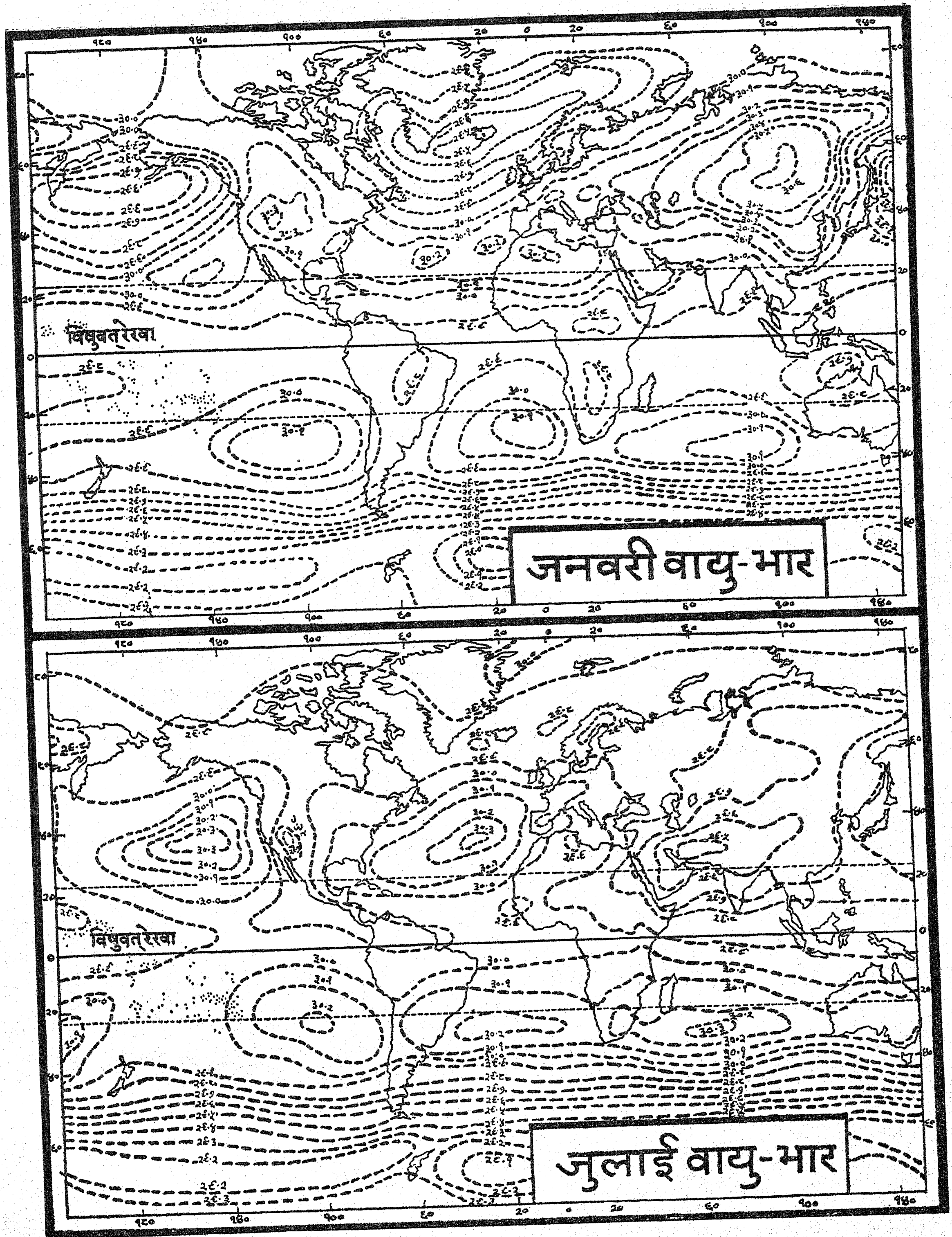
वायुमण्डल की प्रतिक्षण बदलनेवाली दशा को हम मौसम कहते हैं। जब हम कहते हैं कि मौसम बदल गया है अथवा एक स्थान का मौसम दूसरे स्थान के मौसम से भिन्न है, तब हमारा तात्पर्य वायुमण्डल की भौतिक दशा के अन्तर से होता है। मौसम कभी भी स्थिर नहीं रहता। मौसम के विराट् परिवर्त्तनों को यद्यपि हम आँख से देखकर, कान से सुनकर तथा शरीर से छूकर जान सकते हैं तथापि सूक्ष्म परिवर्त्तनों का हाल जानने के लिए हमारे शरीर के अंग इतने दक्ष नहीं हैं। इसके लिए हमें यंत्रों की सहायता लेनी पड़ती है। वायुमण्डल की जिस दशा का हाल यंत्रों से ज्ञात करके हम मौसम निर्धारित करते हैं उसमें वायु की गरमी-सर्दी, भार, आर्द्रता, वेग और दिशा, तथा वर्षा का परिमाण प्रमुख हैं। हवा का भार, तापक्रम आदि प्रति घंटे बदलते रहते हैं। परन्तु उनको अलग-अलग जोड़कर दिन भर के घंटों की संख्या से भाग देने पर आनुपातिक दैनिक मौसम निकल सकता है। लेकिन जिस प्रकार किसी एक ही दिन का कोई घंटा अधिक ठण्डा और कोई अधिक गरम होता है उसी प्रकार महीने में कुछ दिन विशेष ठण्डे और कुछ दिन विशेष गरम होते हैं। महीने भर के मौसम को देखकर आनुपातिक मासिक मौसम निकाला जा सकता है। इसी प्रकार महीनों के मौसम को देखकर आनुपातिक वार्षिक मौसम निकाला जा सकता है। कई वर्षों के मौसमों के आनुपातिक मौसम के हाल को उस स्थान की जलवायु कहा जाता है। इस प्रकार किसी स्थान के वायुमण्डल की क्षणिक अवस्था को मौसम और स्थाई अवस्था को जलवायु कहते हैं।

प्रत्येक देश में मौसम के परिवर्त्तनों के निरीक्षण के लिए वेधशालाएँ बनी हुई हैं और उनकी देखरेख के लिए एक सरकारी विभाग रहता है, जिसको मौसमी विभाग या मेटियोरोलोजी डिपार्टमेन्ट कहते हैं। हमारे देश में पूना और अलीपुर में इस प्रकार की वेधशालायें हैं। इन स्थानों से प्रतिदिन के मौसम का हाल दैनिक पत्रों में प्रकाशित कराया जाता है, जिससे पता चलता है कि विभिन्न स्थानों में कल कैसा मौसम रहा है और आज कैसा रहने की सम्भावना है। मौसम के परीक्षक मौसम के विषय में अध्ययन करते-करते इतने दक्ष हो जाते हैं कि मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणी भी कर सकते हैं। इन्हीं को 'मौसम के जादूगर' कहते हैं। मौसम के परिवर्त्तन की माप के लिए लगभग प्रत्येक बड़े नगर में यंत्र लगे रहते हैं। इन





सबसे अधिक ताप के प्रदेश काले दिखाए गए हैं। आड़ी रेखाओं द्वारा विभिन्न तापमान के कटिबन्ध सूचित किए गए हैं। इन समताप रेखाओं के साथ लिखे अंक डिग्रियों में उक्त प्रदेशों के भिन्न-भिन्न तापमानों का निर्देश करते हैं।



कटावदार रेखाएँ सम वायु-भार के भिन्न-भिन्न कटिबन्धों को सूचित करती हैं और उनके साथ लिखे अंक इंचों में उक्त प्रदेशों के वायु-भार का निर्देश करते हैं।

यंत्रों के अंकों की सूचना प्रतिदिन तार द्वारा अलीपुर और पूना भेज दी जाती है और वहाँ से इन सूचनाओं के अनुसार दैनिक पत्रों में रिपोर्ट प्रकाशित की जाती है।

धरातल पर मौसम का उत्पादक परम तेजस्वी सूर्य है। सूर्य की किरणों से ही धरातल पर गरमी-सरदी होती है। इसमें धरातल की बनावट (ऊँचाई-नीचाई), जल और स्थल, तथा अक्षांश आदि भौगोलिक परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। वायु के अधिकांश परिवर्त्तन ताप द्वारा उत्पन्न होते हैं। धरातल पर ताप कम होने से वायु ठण्डी हो जाती है। इसका प्रभाव वायु के भार पर पड़ता है। वायु-भार से पवन की गति में अन्तर आता है। पवन की गति का प्रभाव वर्षा पर पड़ता है। इस प्रकार ताप द्वारा मौसम के अधिकांश अंगों की दशा में अन्तर पड़ता है।

यद्यपि सूर्य की किरणें वायुमण्डल से होकर पृथ्वी पर पड़ती हैं तथापि इससे वायु के ताप में अन्तर नहीं पहुँचता। वायु का केवल वही अंश इससे प्रभावित होता है जो धरातल के संसर्ग में आता है। इसी अंश के प्रभाव से सम्पूर्ण वायुमण्डल में गरमी या ताप का संचार होता है। धरातल के गरम होने से वायु भी गरम हो जाती है और ठण्डे होने से ठण्डी। पृथ्वी की आकृति के कारण तथा उसकी सूर्य-सम्बन्धी स्थिति के कारण धरातल के विभिन्न स्थलों पर सूर्य की किरणें समान रूप से नहीं पहुँच पाती हैं। वह प्रदेश जहाँ किरणें सीधी पड़ती हैं उस भाग की अपेक्षा शीघ्र और अधिक गरम होता है जहाँ किरणें तिरछी पड़ती हैं। इसका कारण यह है कि तिरछी किरणें को सीधी किरणों की अपेक्षा अपना परिमित ताप अधिक क्षेत्र में फैलाना पड़ता है। धरातल पर इसका प्रभाव यह पड़ता है कि जैसे-जैसे आप भूमध्य-रेखा से दूर हटते जाइए वैसे ही धरातल का तापक्रम कम होता जाता है, अर्थात् तापक्रम अक्षांश के अनुसार घटता-बढ़ता है। भूमध्य-रेखा या शून्य अक्षांश प्रदेश में सबसे अधिक गरमी होनी चाहिए और ध्रुव-प्रदेशों में सबसे कम! पर पृथ्वी की बनावट में विभिन्नता के कारण कहीं-कहीं इसका अपवाद भी देखने को मिलता है।

तापक्रम जल की अपेक्षा धरती पर शीघ्र बढ़ता और शीघ्र ही कम हो जाता है। यही कारण है कि रात को धरती के ठण्डे हो जाने के बहुत देर बाद तक भी जल में सूर्य की गरमी बनी रहती है। इसी प्रकार प्रातःकाल धरती की अपेक्षा जल बहुत देर तक ठण्डा बना रहता है। स्थल-भागों की अपेक्षा जल-भाग इसी कारण गरमी में अधिक गरम नहीं होते और जाड़ों में अधिक ठण्डे नहीं हो पाते। ऊँचाई का भी प्रभाव ताप पर पड़ता है। पृथ्वी से जितने ही ऊँचे आप चढ़ते जाइए, ताप उतना ही कम होता जायगा। यह देखा गया है कि प्रति १०० गज़ की चढ़ाई पर १° फ० तापक्रम कम हो जाता है। यही कारण है कि जब आगरे और लखनऊ में लू चलती है तब शिमला और काश्मीर में लोग ऊनी कपड़ों में लिपटे रहते हैं। तापक्रम और वायु के भार अथवा चाप में भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह कहना भी उचित है कि वायु का भार बहुत-कुछ तापक्रम के अनुसार घटता-बढ़ता है। गरमी से वायु फैलती है और अधिक स्थान को घेरती है। इसलिए प्रति वर्ग इञ्च पर उसका भार कम हो जाता है। इसके विपरीत शीतलता के कारण वायु भारी हो जाती है। इसीलिए अधिक तापक्रमवाले प्रदेशों का वायु-भार कम तापवाले प्रदेशों के वायु-भार से कम होता है।

किसी एक स्थान के तापक्रम अथवा वायु-भार से ही उस स्थान के मौसम की रचना नहीं होती। उस स्थान के वायु के ताप और भार के साथ-ही-साथ उसके आस-पास के प्रदेश के ताप और भार का अध्ययन भी आवश्यक होता है। इसलिए एक ही समय पर भिन्न स्थानों पर ताप और भार की जाँच की जाती है। समस्त धरातल के उन स्थानों को जहाँ एक ही समय में ताप और वायु-भार समान होते हैं नक़शे में रेखाओं द्वारा सम्बन्धित कर देते हैं। ऐसी रेखाओं को समताप और समभार रेखाएँ कहते हैं। इन दोनों रेखाओं में भी आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। समताप और समभार रेखाओं के नक़शों में उच्च-भार और अल्पतापवाली रेखाएँ तथा लघुभार और परम तापवाली रेखाएँ पास-पास पाई जाती हैं। आइए, धरातल पर ताप और भार का सम्बन्ध देखने के लिए जनवरी और जुलाई के समताप और समभारवाले नक़शों का अध्ययन करें।

जनवरी मास में सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध में सर्वोच्च होता है इसलिए यहाँ ग्रीष्म ऋतु होती है। इसीसे इस समय सर्वोच्च तापक्रम दक्षिण अफ्रीका के मध्य में तथा उत्तरी आस्ट्रेलिया में पाया जाता है। दोनों ही स्थानों में ६०° फ० तापक्रम का घेरा है। समुद्र अधिक पास होने के कारण दक्षिणी अमेरिका के इन्हीं अक्षांशों में तापक्रम कम है। स्थल के ऊपर की समताप रेखायें टेढ़ी हैं। पश्चिमी तट पर ठण्डी धारा होने से तीनों दक्षिणी महाद्वीपों में समताप रेखायें अधिक उत्तर से आरम्भ हो जाती हैं पर पूर्वी सिरे पर दक्षिण की ओर बहुत नीची हो जाती हैं। समुद्र के मध्य में समताप रेखाओं में कोई विशेष

अन्तर नहीं है। ३०° फ० की समताप रेखा अन्टार्कटिक वृत्त को प्रायः ढक-सी रही है। उत्तरी गोलार्द्ध में सबसे अधिक शीत एशिया तथा अमेरिका के धुर उत्तरी प्रदेश में पाई जाती है। साईबेरिया के बेर्खायाँस्क नगर के आसपास तापक्रम—६०° फ० हो गया है। यही संसार के बसे हुए भागों में सबसे अधिक ठण्डा है। ३०° फ० की समताप रेखा प्रशान्त महासागर को ५५° अक्षांश में पार करके उत्तरी अमेरिका में प्रवेश करती है। फिर यह रेखा दक्षिण की ओर अधिक मुड़ जाती है। झीलों के प्रदेश के दक्षिण में न्यूयार्क के पास वह अटलांटिक महासागर में निकलती है। गल्फ़ स्ट्रीम इस रेखा को एकदम उत्तर की ओर ढकेल देती है। इसलिए आइसलैण्ड को छूती हुई यह रेखा नार्वे के प्रायः उत्तर में पहुँचती है। यहाँ पहुँचने पर ठण्डे देश फिर इसे दक्षिण की ओर झुका देते हैं। मध्य जर्मनी, आस्ट्रिया, कृष्ण सागर, कास्पियन सागर और मध्य एशिया में होती हुई यह रेखा जापान के उत्तर में निकलती है।

जनवरी मास की समभार रेखाओं के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उच्चताप और लघुभार रेखायें साथ-साथ चलती हैं। लघुभार रेखा भूमध्य रेखा की प्रायः समस्त लम्बाई पर फैल जाती है परन्तु अतिलघुभार भूमध्य रेखा के दक्षिण में दक्षिणी अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका, और आस्ट्रेलिया के मध्य में स्थिर रहता है। इस लघुभार कटिबन्ध के दोनों ओर २० और ४० अक्षांशों के बीच में अयन रेखाओं के उच्चभार कटिबन्ध हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में उच्चभार कटिबन्ध समुद्र में बनते हैं और महाद्वीपों के मध्य में वे अतिउच्चभार बन जाते हैं। इन उच्चभार कटिबन्धों से ध्रुव की ओर पहुँचने पर विशेष लघुभार के प्रदेश मिलते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में लघुभार के प्रदेश महासागर में पृथक्-पृथक् पाये जाते हैं। लघुभार का एक प्रदेश एल्यूशियन द्वीप के पास ८२° उ० अक्षांश में है। दूसरा लघुभार-प्रदेश आईसलैण्ड के दक्षिण-पश्चिम में ६०° उ० अक्षांश में होता है। लम्बी जिह्वा के समान इसका आकार नार्वे और स्पिट्सबर्ग के बीच में आर्क्टिक वृत्त की ओर चला गया है। दक्षिणी गोलार्द्ध में ६० द० अक्षांश से मिला हुआ लघुभार का एक कटिबन्ध पृथ्वी की लगातार परिक्रमा करता है।



पृथ्वी के ताप भाग

जुलाई के महीने में सूर्य कर्क रेखा के ऊपर पहुँच जाता है। इसके साथ-साथ तापक्रम भी चलता है। ६०° फ० से अधिक गर्मी मध्य एशिया, अरब, उत्तरी अफ्रीका और दक्षिणी-पश्चिमी संयुक्त राष्ट्र में पड़ती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में ३२° फ० की समताप रेखा ऊपर बढ़कर प्रायः हार्न अन्तरीप के पास पहुँच गई है। उत्तरी गोलार्द्ध में इस ऋतु में जल से स्थल अधिक गरम रहता है। इसलिए समताप रेखायें उत्तर की ओर मुड़ती हुई महाद्वीपों को पार करती हैं। इस प्रकार ६०° फ० की समताप रेखा प्रशान्त महासागर को तो ४०° फ० पर पार करती है, परन्तु कनाडा में पहुँचने पर इसका झुकाव उत्तर की ओर हो जाता है और यह प्रायः आर्क्टिक वृत्त को छूने लगती है। वहाँ से यह बाल्टिक और श्वेत सागर की ओर बढ़ती है। साइबेरिया में फिर यह आर्क्टिक वृत्त को छूने लगती है। पर शीतल प्रशान्त महासागर के पास पहुँचकर फिर यह एकदम दक्षिण की ओर मुड़ती है।

समताप रेखाओं की भाँति जुलाई में समभार रेखाएँ भी जनवरी से भिन्न रहती हैं। भूमध्य रेखा का लघुभार लगभग उतना ही रहता है। परन्तु सबसे कम वायुभार ३०° उ० अक्षांश के निकट जैकबाबाद (उत्तरी-पश्चिमी भारतवर्ष) में पाया जाता है। उत्तरी गोलार्द्ध में कर्क-रेखा का उच्चभार कटिबन्ध प्रशान्त और अटलांटिक महासागरों तक ही परिमित है। परन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध में २५° द० अक्षांश के पास-पास यह उच्चभार-कटिबन्ध प्रायः अविच्छिन्न-सा है। आइसलैण्ड का लघुभार प्रदेश अब भी कुछ-कुछ शेष है पर एल्यूशियन लघुभार प्रदेश बिल्कुल लुप्त हो गया है। इसके विपरीत दक्षिणी महासागर में लघुभार-प्रदेश

काफ़ी बढ़ गया है। नक़शे में वास्तविक तापक्रम और भूमि की उँचाई-निचाई को एक साथ दिखलाने में बड़ी कठिनाई होती है। इसलिए ऊँचे-नीचे सभी स्थानों को समुद्र-तल पर बसा हुआ मानकर आनुपातिक तापक्रम निकाल लिया जाता है और तब समान तापक्रमवाले स्थानों को समताप रेखाओं से जोड़ दिया जाता है।

भिन्न-भिन्न स्थानों के तापक्रम को जिस प्रकार एक ही आधार पर माना जाता है उसी प्रकार यह आवश्यक है भिन्न-भिन्न स्थानों के वायुभार की नाप एक ही ऊँचाई पर और एक-से ही तापक्रम में ली जाय। इसलिए प्रत्येक स्थान में वायुभार-मापक यंत्र से प्राप्त हुई सूचना को घटा-बढ़ाकर इस प्रकार सुधार लिया जाता है मानों वह समुद्र-तल पर ३२° फ० तापक्रम में प्राप्त हुआ हो। (इसका कारण यह है कि ऊँचाई और तापक्रम दोनों ही का प्रभाव वायुभार पर पड़ता है)।

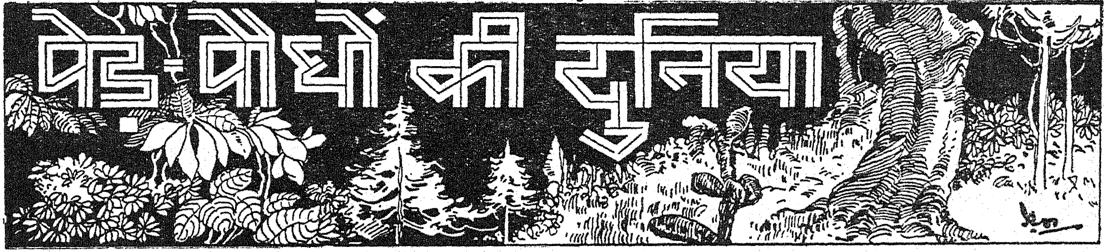
सम वायुभार रेखाओं का नक़शा हवा की दिशा और वेग जानने के लिए अत्यन्त उपयोगी होता है। वायुभार के भेद से ही पवन चलता है। उच्चभार के प्रदेश की वायु लघुभार के प्रदेश की ओर दौड़ती है। यदि पृथ्वी भर में वायु का भार सब कहीं एक-सा ही हो तो हवाओं का चलना ही बन्द हो जाय। इसके विपरीत यदि स्थानों के वायुभार में महान् अन्तर हो, जिससे भिन्न-भिन्न समभार रेखायें पास-पास चलती हों, तो उनसे प्रचण्ड वायु के चलने की सूचना मिलती है। समभार रेखाओं का दूर-दूर होना मन्द वायु का परिचय देता है।

समताप रेखाओं के अध्ययन से हमें यह ज्ञान होता है कि धरातल का कुछ प्रदेश तो ऐसा है जहाँ पर गरमी और जाड़े के तापक्रमों में लगभग कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। इस प्रदेश में पूरे वर्ष भर तक एक-सा ही तापक्रम बना रहता है। केवल रात और दिन के तापक्रमों में अन्तर पड़ जाता है। इसलिए इस प्रदेश की रात को जाड़ा कह सकते हैं और दिन को गर्मी, क्योंकि रात और दिन के तापक्रमों में जाड़े और गरमी की ऋतु की अपेक्षा अधिक अन्तर रहता है। इस प्रदेश में कोई भी ऐसा महीना नहीं होता है जिसमें ताप ६८° फा० से कभी नीचे आता हो। इस प्रदेश को 'अत्युष्ण कटिबन्ध' (Torrid Zone) कहते हैं। धरातल के नक़शे में इस प्रदेश की सीमा ६८° फा० की वार्षिक आनुपातिक समताप रेखा (Mean Annual Isotherm) तक दोनों गोलार्द्धों में है। इस प्रदेश के केवल उन भागों में, जो भूमध्य रेखा से दूर हैं, जाड़े और गरमी के तापक्रमों में अन्तर पड़ने लगता है।

'अत्युष्ण कटिबन्ध' की भाँति ही उत्तरीय और दक्षिणीय गोलार्द्धों में शीतोष्ण कटिबन्ध (Temperate Zone) की सीमा ५०° फा० की गरमी की समताप रेखा तक हैं। इस कटिबन्ध के प्रदेश में जाड़े और गरमी के तापक्रम में विशेष अन्तर पड़ जाता है। ध्रुवों की ओर चलने से जाड़ा अधिक होता जाता है। इस कटिबन्ध में वर्ष में आठ महीने ताप ६८° फा० से नीचे रहता है। इस कटिबन्ध के समुद्रतटीय प्रान्तों में जाड़े और गरमी के अतिरिक्त 'वसंत और पतझड़' की दो और ऋतुयें होती हैं।

धरातल का एक तीसरा भाग ऐसा भी है जहाँ वर्ष के अधिकांश भाग में ताप ५०° फा० से भी कम रहता है। इसको शीत कटिबन्ध कहते हैं। शीत कटिबन्ध में केवल चार ही महीने ऐसे होते हैं जब ताप ५०° फा० से ऊपर रहता है। यहाँ गरमी बहुत कम होती है, किन्तु जाड़ा कड़ाके का पड़ता है तथा जाड़े और गरमी के तापक्रमों में बहुत अधिक अन्तर रहता है। पृथ्वी की गोलाई के कारण इस कटिबन्ध में स्थल का बहुत थोड़ा भाग है। इस कटिबन्ध में सायबेरिया के बेरखायाँस्क नगर में संसार भर में सबसे अधिक जाड़ा पड़ता है।

धरातल के नक़शे में ताप भागों को दिखाने की एक दूसरी रीति भी है। यह सूर्य की किरणों के कोणों अर्थात् अक्षांश रेखाओं के आधार पर है। इसके अनुसार अत्युष्ण कटिबन्ध भूमध्य रेखा के दोनों ओर २३½° अक्षांश तक है। इसकी सीमान्तक रेखा को उत्तरीय गोलार्द्ध में तो कर्क रेखा (Tropic of Cancer) और दक्षिणीय गोलार्द्ध में मकर रेखा (Tropic of Capricorn) कहते हैं। शीतोष्ण कटिबन्ध की सीमा अत्युष्ण कटिबन्ध के बाद ६६½° के उत्तरीय तथा उतने ही अंश के दक्षिणीय अक्षांश तक है। इसकी सीमान्तक रेखा को उत्तरीय गोलार्द्ध में आर्कटिक वृत्त (Arctic Circle) और दक्षिणीय गोलार्द्ध में एन्टार्कटिक वृत्त (Antarctic Circle) कहते हैं। शीत कटिबन्ध (Frigid Zone) शीतोष्ण कटिबन्ध के बाद उत्तरीय तथा दक्षिणीय ध्रुवों तक है। धरातल का सबसे अधिक भाग शीतोष्ण कटिबन्ध में है तथा अधिक-से-अधिक और न्यून-से-न्यून तापक्रम स्थल पर ही पाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में यूरेशिया के विस्तार का प्रभाव प्रत्यक्ष ही है। जनवरी और जुलाई के तापक्रमों का अन्तर सबसे अधिक एशिया महाद्वीप में पाया जाता है।



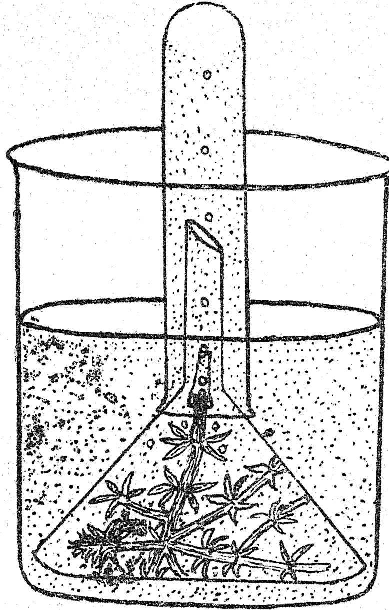
अन्नपूर्णा-भण्डार पत्ती की कहानी—(४)

कार्बन एसिमिलेशन या फोटोसिन्थिसिस और नाइट्रोजन एसिमिलेशन

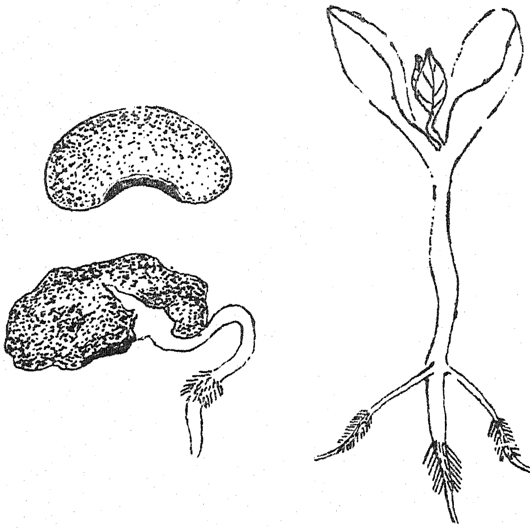
संसार के सभी जीवों को, चाहे वे पशु हों या पेड़-पौधे, आहार की आवश्यकता रहती है। इन्हें काम-काज के लिए सामर्थ्य चाहिए जो आहार से ही प्राप्त होता है। अतः इन्हें जीवनपर्यन्त खाद्य पदार्थ मिलते रहने चाहिएँ।

विश्लेषण से पता चलता है कि सारे जीवों के अंग एक-जैसे तत्त्वों से बने हैं। हम-आप, पशु-पत्ती, कीड़े-पतंगे व अन्य जन्तु तथा आम-जामुन, काई-फफूँदी अथवा दूसरी वनस्पतियाँ सभी के शरीर में एक-जैसे तत्त्व पाये जाते हैं। उसी ऑक्सिजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, सल्फर और फास्फोरस आदि से इनके अंग और तन्तु बनते और बढ़ते हैं। इसलिए इनको ये सारे तत्त्व किसी-न-किसी भाँति मिलने चाहिएँ। इन तत्त्वों के प्राप्त करने के ढंग में पौधों और पशुओं में बड़ा अन्तर है।

अधिकांश पेड़-पौधे प्रकृति की साधारण इनआर्गैनिक वस्तुओं से ही अपने अंगों और तन्तुओं की रचना कर लेते हैं। ये जल, नमक और वायु के कार्बन से ही समस्त प्रयोजनीय पदार्थ बना लेते हैं। इन्हीं से ये कन्द-मूल, फल, मेवे-मसाले और भाँति-भाँति के इत्र-तेल-सुगंध की रचना करते हैं और इन्हीं से इनके अंगों की बाढ़-वृद्धि होती है। परन्तु पशुओं का ऐसा हाल नहीं। इनके काम-काज ऐसी इनआर्गैनिक वस्तुओं के सहारे नहीं चल सकते। इनको आर्गैनिक वस्तुओं की आवश्यकता रहती है। इन्हें कार्बोहाइड्रेट (स्टार्च व शकर-जैसे पदार्थ), प्रोटीन (दाल, मांस, अण्डा व दूध-जैसी वस्तुएँ) तथा चर्बी, तेल, घी आदि की आवश्यकता रहती है। इनके काम ऐसे पदार्थों के बिना नहीं चल सकते। इन पदार्थों की रचना पेड़-पौधों द्वारा होती है। इसलिए पशुओं की ख़ूराक का अधिकांश भाग पेड़-पौधों से ही आता है। यह बात न केवल शाकाहारी पशुओं के लिए ही सच है, वरन् समस्त पशु-संसार के लिए। पौधों की पत्तियाँ और दूसरे हरे अंगों पर ही हमारा-आपका अथवा दूसरे पशुओं का जीवन निर्भर है। फलों, बीजों व कंद-मूल में एकत्रित खाद्य पदार्थ ही हमारे-आपके काम आते हैं। यही वस्तुएँ हमारे भोजन का आवश्यक भाग हैं। करोड़ों मन गेहूँ, चावल, चना व दूसरे अनाज तथा आलू, मटर, गोभी, सेम, चुकन्दर व अन्य शाक-भाजी, जो रोज़ाना ख़र्च होते रहते हैं, हमें वनस्पतियों से ही मिलते हैं। यथार्थ में दूध, मलाई, मक्खन, अंडा व मांस-जैसी कुछ इनी-गिनी वस्तुओं को छोड़ शेष सभी हमें पेड़-पौधों से ही मिलती हैं। परन्तु ये दूसरे पदार्थ भी हमें पेड़-पौधों की बदौलत ही मिलते हैं; क्योंकि वे जानवर भी, जिनसे हमें घी, दूध, मक्खन, अंडा, मांस आदि



चि० १—हरे पौधे वायु शुद्ध करते हैं। वे प्रकाश में वायु की कार्बन-डाइ-ऑक्साइड से कार्बन ग्रहण कर ऑक्सिजन वायु में वापस कर देते हैं। (चि० वि० सा० शर्मा)



चि० २—बीज से पौधे के अंकुरित होने तथा उसमें साधारण हरी पत्तियाँ निकलने तक में जो बाढ़ और क्रियाएँ होती हैं, इनके लिए खाद्य पदार्थ बीज में संचित द्रव्यों से ही मिलते हैं। (चि० मि० शम्सुद्दीन अहमद द्वारा)

मिलते हैं, दाना, चारा, घास आदि पर ही ख़ूराक के लिए निर्भर हैं। अतः हम इस परिणाम पर पहुँचे कि सारे पशु-पक्षी तथा स्वयं मनुष्य पेड़-पौधों पर ही भोजन के लिए आश्रित हैं। इन्हीं की बदौलत हमारे स्वादिष्ट-से-स्वादिष्ट व्यंजन और पकवान तैयार होते हैं। इनके बिना किसी भी प्राणी का पृथ्वी पर पैदा होना या जीवित रहना असम्भव है।

हमारी-आपकी ख़ूराक में कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन और थोड़ा-बहुत घी-तेल-नमक रहता है। इन सब पदार्थों में हमें प्रोटीन और स्टार्च की अधिक ज़रूरत रहती है। ये हमारे अंगों को बनाते और पुष्ट करते हैं और इन्हीं से हमें काम-काज के लिए शक्ति मिलती है। इन पदार्थों की रचना पेड़-पौधों द्वारा होती है। इस समय हम आपका ध्यान कार्बन और नाइट्रोजन एसिमिलेशन की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। इनके फलस्वरूप पौधों में स्टार्च व अन्य कार्बोहाइड्रेट और प्रोटीन बनते हैं।

कार्बन एसिमिलेशन (स्टार्च-संश्लेषण)

दूसरे कार्बोहाइड्रेट की तरह स्टार्च भी कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के संयोग से बना है। ऑक्सिजन और हाइड्रोजन तत्त्व इसमें उसी मात्रा में होते हैं, जिसमें कि वे पानी में होते हैं; अर्थात् प्रत्येक ऑक्सिजन अणु के साथ-साथ दो हाइड्रोजन अणु संयोजित रहते हैं (H_2O)। स्टार्च की रचना विशेषकर पेड़ों की पत्तियों में ही होती है। यहाँ कार्बन एसिमिलेशन की क्रियायें होती रहती हैं, जिनसे अंत में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड और जल के मेल से शकर और स्टार्च-जैसे अमूल्य पदार्थ बनकर तैयार होते हैं।

प्रायः वैज्ञानिकों का मत है कि कार्बन एसिमिलेशन में सबसे प्रथम फार्मेल्डीहाइड तैयार होता है, पर तुरन्त ही इसके ६ अणु मिलकर एक प्रकार की शकर बन जाती है:—

$$CO_2 + H_2O = CH_2O \text{ (फार्मेल्डीहाइड)} + O_2$$

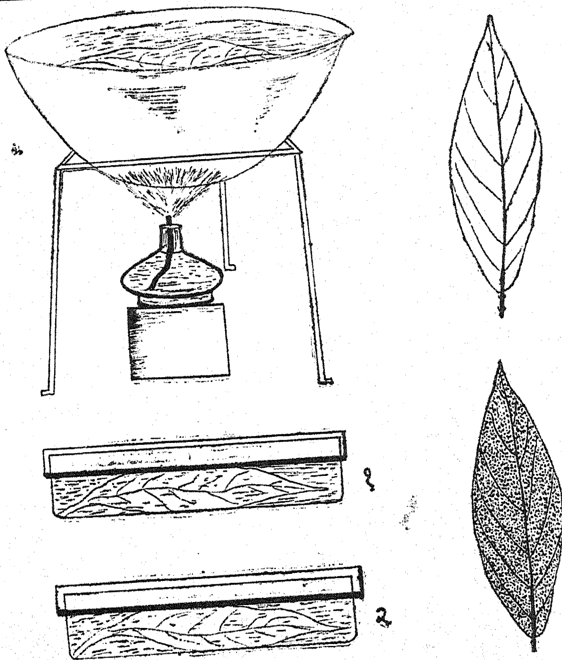
$$6CH_2O = C_6 H_{12} O_6 \text{ (शकर)}$$

इन सूत्रों के अनुसार जितनी कार्बन-डाइ-ऑक्साइड पौधे ग्रहण करते हैं, उतनी ही ऑक्सिजन वे बाहर वायु में निकाल देते हैं और इस प्रकार पौधों के फोटोसिन्थिसिस के प्रभाव से वायु शुद्ध होती रहती है।

प्रयोग—इलोडिया या हाइड्रैला जैसे किसी पानी के अन्दर उगनेवाले पौधे को एक बर्त्तन में पानी के अन्दर फनेल से ढककर रख दीजिए। फनेल की नली पर एक



चि० ३—आलू के ग्रन्थिकंद से पौधे की उत्पत्ति। इसके पहले कि पौधा अंकुरित होकर हरी पत्तियों द्वारा स्टार्च आदि की रचना कर सके, उसे खाद्य पदार्थ चाहिएँ। ये ग्रन्थिकंद में संचित द्रव्यों से ही प्राप्त होते हैं। (चि० मि० शम्सुद्दीन अहमद द्वारा)

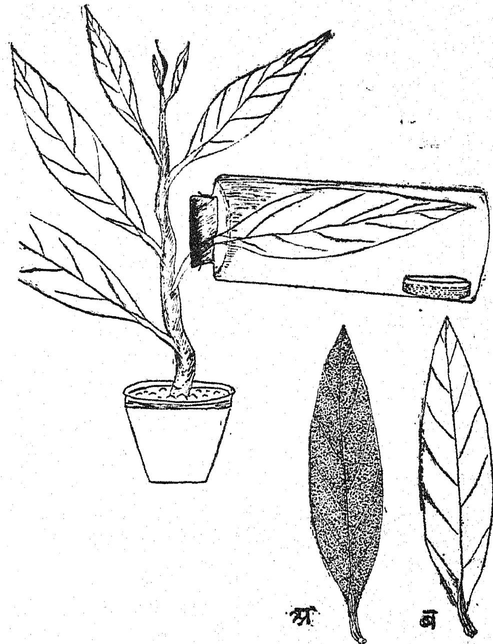


चि० ४—इस चित्र में स्टार्च-परीक्षा करने की क्रिया दिखलाई गई है। चित्र में बाईं ओर, ऊपर एक पात्र में पत्ती खौलाई जाती दिखाई गई है; नीचे डिश नं० १ में अल्कोहोल में रखकर पत्ती का पर्णहरित दूर करने की क्रिया और नं० २ में उसे आयोडीन के घोल में रखने की क्रिया दिखाई गई है। दाहिनी ओर, ऊपर पत्ती का चित्र अल्कोहोल द्वारा पर्णहरित निकल जाने पर दिखाया गया है, नीचे उसी रंगहीन पत्ती को आयोडीन घोल में डालने के पश्चात् घोल के प्रभाव से रँग जाने पर दिखाया गया है। (चि० श्री वि० सा० शर्मा)

पानी से भरी टेस्टट्यूब उलट कर अपैरेटस को प्रकाश में पहुँचा दीजिए (चि० १)। कुछ देर बाद ट्यूब में गैस के बुलबुले जमा होने लगेंगे और आठ-दस घंटे बाद उसमें काफ़ी गैस आ जायगी। परीक्षा करने पर यह गैस ऑक्सिजन निकलेगी। यदि इस प्रयोग में साधारण पानी के बजाय उबाला हुआ पानी काम में लाया जाय तो गैस नहीं इकट्ठी होगी; परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि पानी उबालकर उसमें वायु नहीं आने देनी चाहिए। इसलिए बर्त्तन में खौलता पानी भरकर उसे तुरन्त ही काग से बन्द कर देना चाहिए। जल ठंढा होने के पश्चात् उसमें उपरोक्त विधि से पौधा और फनेल आदि रख फ़ौरन् फिर काग लगा देनी चाहिए। शेष सारी बातें वही होनी चाहिएँ जो पहले प्रयोग में थीं।

फ़ोटोसिन्थिसिस पत्ती के मिसोफिल कोशों में होता है। इस क्रिया में पौधे की पत्तियाँ वायु की कार्बन-डाइ-ऑक्साइड को प्रकाश की सहायता से ग्रहण करती हैं। यह गैस रंध्रों से निःसृत होकर पत्ती के अन्तरतान्तविक-स्थानों में पहुँचती है। यहाँ से यह मिसोफिल कोशों में प्रवेश करती है। कार्बन-डाइ-ऑक्साइड पानी में घुलकर ही जाती है, गैस-रूप में नहीं। इन कोशों में अनेक रासायनिक क्रियाओं के पश्चात् अन्त में स्टार्च बनता है।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, पत्तियों में सम्भवतः पहले फार्मैल्डीहाइड बनता है; परन्तु यह अधिक मात्रा में नहीं मिलता। इससे अनुमान किया जाता है कि यह पदार्थ शकर में परिवर्त्तित हो जाता है। यहाँ से यह शकर पौधे के अन्य अंगों में, जहाँ काम-काज और बाढ़ होती रहती है, पहुँचती है। ज़रूरत से ज़्यादा तैयार हुई शकर पहले पत्तियों में ही स्टार्च में परिवर्त्तित हो जमा होती है; पर बाद में वह जड़, तना, बीज या किसी अन्य अंग में संचित होती है। यही स्टार्च से परिपूर्ण पदार्थ हमारे-आपके काम आते हैं। आलू, रतालू, शकरकंद-जैसी वस्तुओं और चावल आदि में अधिकांश भाग स्टार्च का



चि० ५

(अ) बाहर साधारण वायु में फैली पत्ती और (ब) बोतल के अन्दर की पत्ती, आयोडीन घोल से स्टार्च की जाँच करने के पश्चात्। (चि० मि० श० अहमद)

ही होता है, जो कार्बन एसिमिलेशन से ही इनमें संचित हो गया है। इन वस्तुओं को हम-आप सभी बर्तते हैं और इन्हीं से पौधों की उत्पत्ति तथा बाढ़ होती है, तथा इसके पहले कि इनमें पत्तियाँ आएँ और वे खाद्य पदार्थ बना सकें, यही संचित द्रव्य पौधों की खूराक होते हैं (चि० २-३)। पहले कुछ लोगों की धारणा थी कि कार्बन एसिमिलेशन में सबसे पहले स्टार्च बनता है; परन्तु अब पता चलता है कि यह बात ठीक नहीं। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि सबसे पहले बननेवाला द्रव्य न होने पर भी इस क्रिया में हम स्टार्च को ही सबसे प्रथम प्रकट होते देखते हैं। कुछ एकदली और कोई-कोई द्विदली पौधों में स्टार्च की जगह एक-न-एक तरह की शकर तैयार होती है और किसी-किसी शैवाल (*Vaucheria* वोचिरिया) में इसके बजाय तेल बनता है।

स्टार्च की परीक्षा—यदि गेहूँ या चावल के आटे पर बूँद-दो बूँद आयोडीन घोल डालकर देखा जाय तो आटे का रंग बैंगनी, नीला या काला हो जायगा। यही हाल सिंघाड़े व साबूदाने के चूर्ण व आलू के कत्तल का होगा। इस परिवर्त्तन का कारण यह है कि इन वस्तुओं में स्टार्च होता है जो आयोडीन के घोल से ऐसा रँग जाता है। अगर किसी पौधे की पत्ती की जाँच की जाय तो भी ऐसा ही होगा, लेकिन अक्सर पत्ती के हरे रंग के कारण इस घोल का ठीक-ठीक असर दिखाई नहीं देता। इसलिए आयोडीन घोल में डालने के पहले पत्ती का पर्णहरित निकाल देना चाहिए।

प्रयोग—गेहूँ, मक्का, तरोई, सूरजमुखी या किसी दूसरे पौधे की पत्तियों को दोपहर बाद इकट्ठी कर खौलते पानी में थोड़ी देर पड़ी रहने दीजिए। बाद में इन्हें पानी से निकालकर ६०% अल्कोहोल में रख दीजिए। धीरे-धीरे पत्ती का रंग हल्का होने लगेगा और अल्कोहोल हरा हो जायगा। दो-तीन बार अल्कोहोल बदलने पर पत्ती का रंग जाता रहेगा। यदि क्लोरोफिल को जल्द दूर करना हो तो अल्कोहोल को कुछ गरम कर सकते हैं; परन्तु इसमें बड़ी सावधानी रखनी चाहिए, क्योंकि अल्कोहोल तुरंत ही आग पकड़ लेता है। रंगहीन पत्ती को आयोडीन के घोल में रखने से वह, जैसा उसमें स्टार्च होगा उस हिसाब से, काली, नीली व बैंगनी हो जायगी (चि० ४)।

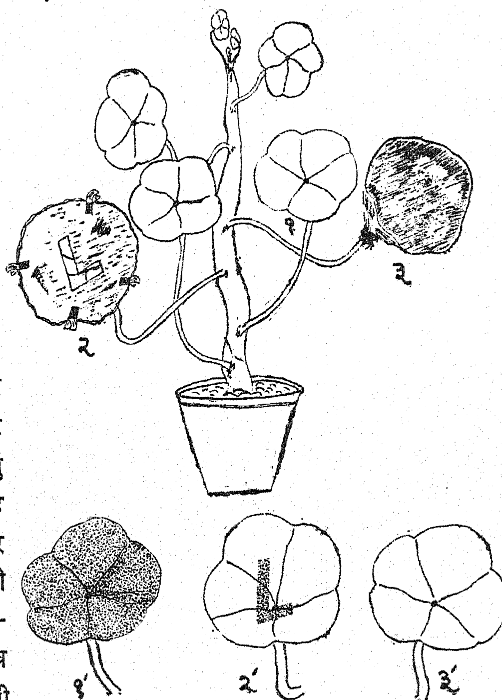
कार्बन एसिमिलेशन के लिए किन-किन बातों की ज़रूरत होती है?

पौधों में कार्बन एसिमिलेशन के लिए (१) कार्बन-डाइ-आक्साइड, (२) पानी, (३) प्रकाश, (४) पर्णहरित और (५) अनुकूल ताप की ज़रूरत पड़ती है। ये ही इस क्रिया के विशेष उपकरण हैं। इनमें से प्रायः जल तो सभी जगह व समय क्रिया के लिए ज़रूरत भर के लिए मिलता रहता है और पर्णहरित की पौधों में कमी नहीं है। इसके अलावा यह पदार्थ तो फोटोसिन्थिसिस में सिर्फ़ प्रवर्त्तक रूप से ही सहायक समझा जाता है। अब रह गईं शेष की तीन वस्तुएँ, अर्थात् कार्बन-डाइ-ऑक्साइड, प्रकाश और ताप-क्रम। इन्हीं की कमी-ज़्यादती पर क्रिया का दारोमदार है और यही इसके सीमास्थापक उपकरण (limiting factors) हैं।

कार्बन-डाइ-ऑक्साइड और फोटोसिन्थिसिस—कार्बन-डाइ-ऑक्साइड कार्बन एसिमिलेशन के आवश्यक उपकरणों में है। इसके बिना पत्तियों में स्टार्च नहीं बन सकता।

प्रयोग—चौलाई, ट्रोपियोलम या किसी दूसरे गमले में लगे पौधे को दो-तीन दिन रोशनी से बचा अँधेरी जगह रख दीजिए। इस हालत में स्टार्च नहीं बनेगा और जो कुछ पौधे की पत्तियों में स्टार्च पहले से संचित होगा वह भी समाप्त हो जायगा। जब जाँच करने पर पत्तियों में स्टार्च न मिले तो ऐसे पौधे को रोशनी में लाइए; परन्तु उसकी एक पत्ती को इस ढंग से रखिए कि उसे कार्बन-डाइ-ऑक्साइड न मिले। इस सुभीते के लिए एक बोतल के अन्दर प्याली में थोड़ा-सा कास्टिक पोटाश रख दीजिए और उसके मुँह में दो फाँक में चीरी एक काग लगा दीजिए (चि० ५)। काग के पल्लों के बीच से पत्ती को बोतल के अन्दर प्रवेश कर दराज मोम या किसी और ऐसी ही चीज़ से बंद कर दीजिए ताकि हवा न आ सके। प्याली का पोटाश बोतल की हवा से कार्बन-डाइ-ऑक्साइड खींच लेता है, इसलिए अन्दर की पत्ती को यह गैस नहीं मिलती। शेष के सारे उपकरण अन्दर-बाहर एक-जैसे हैं। आठ-दस घंटे रोशनी में रखने के बाद आयोडीन घोल से जाँच करने पर आप देखेंगे कि बोतल के अन्दर की पत्ती में बिल्कुल स्टार्च नहीं बना, यद्यपि बाहर की सभी पत्तियों में काफ़ी स्टार्च बन गया है (चि० ५)। यदि इस तरह पत्ती का कुछ हिस्सा ऐसी बोतल के बाहर और कुछ उसके अन्दर रक्खा जाय तो केवल बाहरवाले हिस्से में स्टार्च मिलेगा शेष में नहीं। इस प्रयोग से हम इस नतीजे पर पहुँचे कि **कार्बन-डाइ-ऑक्साइड न मिलने से पौधों में फोटोसिन्थिसिस नहीं होता।**

कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की मात्रा का फोटोसिन्थिसिस पर प्रभाव—हवा में लगभग ·०३% कार्बन-डाइ-ऑक्साइड रहती है। साधारण दशा में पौधों के लिए यही काफ़ी है। अगर हवा में किसी तरह इस गैस की मात्रा इससे अधिक की जाय तो कार्बन एसिमिलेशन भी अधिक हो जायगा, लेकिन उसी वक़्त तक जब तक कि कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की मात्रा २५% तक नहीं पहुँच जाती। इसके उपरान्त, साधारण प्रकाश और ताप में, कार्बन-डाइ-ऑक्साइड अधिक करने पर भी एसिमिलेशन अधिक नहीं होता। अब यदि ताप और प्रकाश में से एक-न-एक अधिक किया जाय तो क्रिया तुरन्त बढ़ने लगेगी। इस ढंग से बाक़ी के दो उपकरणों को यथेष्ट बढ़ाने से जिस समय तक वायु में २५% कार्बन-डाइ-ऑक्साइड नहीं हो जायगी क्रिया की रफ़्तार बढ़ती जायगी; परन्तु जब गैस की मात्रा इससे बढ़ जायगी तो जीवन-मूल पर इसका विषैला प्रभाव पड़ने लगेगा और क्रिया धीमी हो जायगी।



चि० ६—सूर्य-प्रकाश और कार्बन एसिमिलेशन
१—साधारण पत्ती। २-३ विधिवत काले काग़ज़ से ढकी पत्तियाँ। १'-२'-३' वही पत्तियाँ स्टार्च की जाँच के पश्चात्। (चि० मि० शम्सुद्दीन अहमद द्वारा)

प्राकृतिक अवस्था में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड सीमास्थापक रहता है; क्योंकि ऐसी दशा में पत्तियाँ ·०३% से अधिक कार्बन-डाइ-ऑक्साइड काम में ला सकती हैं। परन्तु वायु में इससे अधिक यह गैस नहीं होती।

प्रकाश और कार्बन एसिमिलेशन—कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की भाँति बिना प्रकाश भी कार्बन एसिमिलेशन नहीं हो पाता। इसकी जाँच के लिए ऊपर कहे ढंग से अंधकार में रक्खे पौधे को लेकर उसकी एक-दो पत्ती काले काग़ज़ या पन्नी से लपेट दीजिए (चि० ६)। काग़ज़ या पन्नी पर इच्छानुसार अक्षर या चित्र काटे जा सकते हैं। ऐसी दशा में केवल कटे भाग से ही पत्ती में रोशनी पहुँचेगी। बाद में पौधे को रोशनी में रख दीजिए और शाम को इन पत्तियों की दो-एक साधारण पत्तियों के साथ आयोडीन घोल से जाँच कीजिए। अब आप देखेंगे कि पत्ती के जिस भाग में प्रकाश नहीं पहुँचा स्टार्च नहीं बना (चि० ६)। अतः **फोटोसिन्थिसिस के लिए प्रकाश आवश्यक है**। यही कारण है कि पत्तियाँ प्रकाश की ओर झुकी रहती हैं (चि० ७)।

वायु में जितना कार्बन-डाइ-ऑक्साइड है उसके अनुसार कार्बन एसिमिलेशन के लिए प्रकृति में प्रकाश की कमी नहीं है और इसलिए प्राकृतिक दशा में वह सीमास्थापक उपकरण नहीं होता; परन्तु घने जंगलों और खोहों में उगनेवाली वनस्पतियों को, जहाँ बिंधकर प्रकाश की किरणों का पहुँचना कठिन है, बहुत कम प्रकाश मिलता है और इस दशा में वह ·०३% कार्बन-डॉइ-आक्साइड के लिए भी पर्याप्त नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में प्रकाश सीमास्थापक हो जाता है। इन स्थानों में नीचे उगनेवाले पेड़-पौधे जिन दिनों वहाँ के वृक्षों में पतझड़ होता है उन्हीं दिनों स्टार्च तथा अन्य वस्तुओं की रचना कर पूरे साल के लिए निश्चिन्त हो जाते हैं।

सूरज की किरणों का प्रत्येक भाग समान रूप से कार्बन एसिमिलेशन के लिए हितकर नहीं है। जैसा आपको मालूम होगा, यह किरणें कई रंग की होती हैं। ये रंग वही हैं, जिन्हें आप वर्षा के दिनों कभी-कभी आकाश में इन्द्रधनुष में देखते हैं। प्रिज़्म से गुज़रने पर भी सूरज की रोशनी इन्हीं रंगों में विस्तारित हो जाती है। ये रंग बैंगनी, गहरा नीला, नीला, हरा, पीला, नारंगी और लाल हैं। फोटोसिन्थिसिस इन सब में एक समान नहीं होता।

प्रयोग—ऊपर बताये तरीक़े से अँधेरे में उगाये दो पौधे ले लीजिए और दो दोहरी दीवालवाले बेलजार लेकर एक में पोटैशियम-डाइक्रोमेट (Potassium di-chromate) का घोल और दूसरे में तूतिया (Copper-sulphate) का घोल, जिसमें थोड़ा अमोनिया पड़ा हो,

भर दीजिए। अमोनिया के प्रयोग से तूतिया के घोल का रंग गहरा हो जाता है। पहले लिये हुए गमलों में से एक-एक को इन बेलजारों से ढककर रोशनी में रख दीजिए। शाम को इन पौधों से पत्तियाँ उतार स्टार्च के लिए जाँच कीजिए। आप देखेंगे कि पोटैशियम-डाइक्रोमेट के बेलजार से ढके पौधे की पत्तियों में लगभग उतना ही स्टार्च बना है जितना कि बाहर प्रकाश में; परन्तु तूतिया के बेलजार के अन्दर रक्खे पौधे में नाममात्र को ही स्टार्च बन पाया है। इससे नतीजा यह निकलता है कि सूरज की किरणों के उस भाग में, जो पोटैशियम-डाईक्रोमेट के घोल से छनकर पौधे को मिलता है (अर्थात् लोहित किरणों में), यथार्थ फोटोसिन्थिसिस होता है, परन्तु इनके उस भाग में जो तूतिया के घोल से छनकर पौधे तक पहुँचता है (अर्थात् नीली किरणों में) यह क्रिया नाममात्र को ही होती है। इसे हम एक दूसरी तरह से भी साबित कर सकते हैं।

प्रयोग—इलौडिया या हाइड्रिला-जैसे किसी पानी के नीचे उगनेवाले पौधे को प्रयोग १ में बताई विधि से पोटैशियम-डाइक्रोमेट और तूतिया के बेलजारों से ढककर प्रकाश में रख दीजिए। कुछ देर बाद आप देखेंगे कि पोटैशियम-डाइक्रोमेट के बेलजार के अन्दर रक्खे पौधे की ऊपर की ट्यूब में काफ़ी ऑक्सिजन आ गई है, परन्तु तूतिया के बेलजारवाली ट्यूब में शायद ही कुछ ऑक्सिजन आई हो। अतः **सूरज की किरणों का लाल भाग ही विशेषकर कार्बन एसिमिलेशन में भाग लेता है।**

ताप और फोटोसिन्थिसिस—कार्बन एसिमिलेशन पर ताप का प्रायः वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा कि इसका अन्य साधारण रासायनिक क्रियाओं पर (चि० ८)। ताप बढ़ने के साथ ही इन क्रियाओं की गति भी बढ़ जाती है। बहुत-सी रासायनिक क्रियाओं में देखा जाता है कि प्रति १०° श० ताप की बाढ़ पर क्रिया दूनी हो जाती है अर्थात् २०° श० पर १०° श० की अपेक्षा क्रिया दुगुनी रफ़्तार से होने लगती है और ३०° श० पर इसकी दुगुनी (चि० ८)। एक विशेष सीमा के अन्दर फोटोसिन्थिसिस में भी यही नियम लागू है (चि० ८)। यहाँ क्रिया का जीवनमूल से सम्बन्ध है, जो सजीव पदार्थ है और ताप की विशेष अवधि पहुँच जाने पर मर जाता है। इसके अतिरिक्त जो द्रव्य फोटोसिन्थिसिस में उपार्जित होते हैं उनका भी पत्ती से स्थानान्तर हो जाना ज़रूरी है, वरना इनके जमा हो जाने से भी क्रिया धीमी पड़ने लगती है।

जाँच से देखा गया है कि प्रायः २५° श० के ऊपर ताप पहुँचने पर फोटोसिन्थिसिस की रफ़्तार धीमी पड़ने लगती है और जितनी अधिक देर तक ऐसा ऊँचा ताप रहता है क्रिया पहले से धीमी पड़ती जाती है। यह अवस्था श्रम या थकावट का परिणाम समझी जाती है। लगभग ३५° श० के ऊपर ताप पहुँचने पर क्रिया बड़ी शीघ्रता से धीमी पड़ने लगती है और प्रायः आध घंटे के अन्दर बिल्कुल ही बन्द हो जाती है। १०° श० और २५° श० के बीच, किसी भी ताप पर, यदि कार्बन-डाइ-ऑक्साइड और प्रकाश अनुकूल हों तो क्रिया की रफ़्तार घंटों एक-सी बनी रहती है। इस परिस्थिति में श्रम का प्रभाव नहीं पड़ता। ६° श० और १६° श० के बीच ताप बढ़ने पर फोटोसिन्थिसिस प्रायः साधारण रासायनिक क्रियाओं के नियम के अनुसार बढ़ता है।

साधारण दशा में प्रायः तापक्रम यथेष्ट रहता है, परन्तु बहुत ठंढे प्रदेशों में तथा पर्वतों की ऊँची-ऊँची चोटियों पर यह साधारण प्रकाश और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड के लिए भी सीमास्थापक हो जाता है।

विषैला प्रभाव—जैसा ऊपर कह चुके हैं, प्रकाश, ताप और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड में से कोई भी सीमास्थापक हो सकता है, साथ-ही-साथ, इनमें से कोई भी विशेष मात्रा के ऊपर उलटा प्रभाव डाल सकता है। इस प्रकार यदि कार्बन-डाइ-ऑक्साइड २५% से अधिक मात्रा में वायु में हो जाय तो इसका ज़हरीला प्रभाव पड़ने लगता है और क्रिया धीमी पड़ जाती है। साधारण प्रकाश से ६०% अधिक प्रकाश होने पर पर्णहरित झुलस जाता है और क्रिया बन्द हो जाती है। ३५° श० से अधिक तापक्रम पहुँचने पर फोटोसिन्थिसिस की रफ़्तार धीमी पड़ने लगती है और अन्त में क्रिया बंद हो जाती है। इन सीमाओं में देश, काल अथवा पौधे की प्रकृति आदि के अनुसार थोड़ा-बहुत हेर-फेर पड़ता रहता है।

पर्णहरित और कार्बन एसिमिलेशन—पर्णहरित कार्बन एसिमिलेशन के आवश्यक उपकरणों में है और इसके बिना स्टार्च-संश्लेषण नहीं हो सकता।

प्रयोग—किसी पौधे की चितकबरी (variegated) पत्ती लेकर उपरोक्त विधि से स्टार्च की जाँच कीजिए। केवल पत्ती के उसी भाग में स्टार्च मिलेगा जिसमें क्लोरोफिल था (चि० ६)। इस प्रयोग में पत्ती का, पर्णहरित उतारने के पहले, सही-सही चित्र खींच लेना चाहिए, ताकि उन स्थानों का, जिनमें क्लोरोफिल था, हमें बाद में पता चल सके और आयोडीन घोल में डालने के

पश्चात् जहाँ-कहीं स्टार्च मिलता है, उन स्थानों की हम इनसे तुलना कर सकें।

जाँच से पता चलता है कि क्लोरोफिल मिश्रित पदार्थ है। इसमें कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सिजन, नाइट्रोजन और मैग्नेशियम होते हैं।

शुद्ध क्लोरोफिल दो प्रकार के हरे पदार्थों से बना है। इनमें एक गहरा हरा होता है—इसे क्लोरोफिल (अ) कहते हैं और दूसरा हल्का हरा होता है—इसे क्लोरोफिल (ब) कहते हैं। इनके साथ-साथ पर्णहरित में दो और रंगदार द्रव्य होते हैं। इनमें से एक लाल होता है—इसे ज़ैन्थोफिल (Xanthophyll) कहते हैं और दूसरा नारंगी लाल (orange red), जिसे कैरोटिन (Carotin) कहते हैं। विशेष घोलकों के प्रयोग से हम इन चारों को अलग कर सकते हैं।

कार्बन एसिमिलेशन में केवल शुद्ध क्लोरोफिल का ही संबंध माना जाता है; परन्तु यह पदार्थ भी एसिमिलेशन की अन्तिम बनी वस्तु में भाग नहीं लेता। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि क्लोरोफिल के साथ क्लोरोफाइलेज़ (Chlorophyllase) या दूसरा कोई प्रवर्त्तक (enzyme) भी काम करता है। सम्भव है, इस क्रिया में कई प्रवर्त्तक भाग लेते हों। फोटोसिन्थिसिस में पर्णहरित उत्प्रेरक (catalytic) रूप से काम करता है और इसलिए इसकी मात्रा का क्रिया पर प्रभाव नहीं पड़ता। क्लोरोफिल की वृद्धि और उत्पत्ति के लिए ऑक्सिजन, यथेष्ट ताप, प्रकाश और खाद्य-रसों में लोहे की उपस्थिति की आवश्यकता रहती है।

आपने देखा होगा कि बेलन के नीचे दबी बगीचे की घास व अन्धकार में उगे पौधे पीले पड़ जाते हैं। इस हालत में इनमें एक पीली वस्तु पैदा हो जाती है। ऐसे पौधों को इटिओलेटेड (etiolated) पौधे कहते हैं। ऐसे पौधों क पोर लम्बे, पत्तियाँ छोटी तथा वल्कपत्र-जैसी होती हैं और इनमें काष्ठ और पाषाण-तन्तु कम, परन्तु कोमल तन्तु अधिक होते हैं। ये पौधे साधारण पौधों से बहुत नाज़ुक और कमज़ोर होते हैं (चि० १०)। अँधेरे में कार्बन एसिमिलेशन नहीं हो सकता। इसलिए इटिओलेटेड पौधों में बड़ी पत्तियों की आवश्यकता नहीं; परन्तु पोर बड़े होने से इनकी अँधेरे से निकल प्रकाश में पहुँचने की सम्भावना है। इसलिए मानो ऐसे पौधे, अपने हित के लिए ही, पत्तियों वग़ैरह से खाद्य पदार्थ बचा कर उसे लम्बे पोर बढ़ाने में ही लगाते हैं।

पौधों की ख़ूराक में लोहे का भाग न होने से भी वे पीले और रोगी हो जाते हैं। ऐसे पौधों में लोहे का अंश पहुँचते ही वे फिर हरे हो जाते हैं।



प्रकाश ——>

प्रकाश की ओर

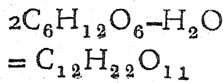
चि० ७—(फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा)

यदि क्लोरोफिल के घोल को प्रिज़्म और सूरज की किरणों के बीच में रख दिया जाय, ताकि जो किरणें प्रिज़्म पर पड़ें वे इस घोल से छन-कर आएँ, तो जो स्पेक्ट्रम बनेगा वह साधारण स्पेक्ट्रम से बहुत भिन्न होगा। ऐसे स्पेक्ट्रम के विशेषकर लाल भाग में कुछ काली पट्टियाँ दिखाई देंगी। किसी अंश में ऐसी पट्टियाँ नीले और बैंगनी भाग में भी मिलेंगी। इसका कारण यह है कि पर्णहरित इन किरणों को सोख लेता है। इसके पहले हम देख चुके हैं कि कार्बन एसिमिलेशन में विशेषकर लोहित किरणें ही भाग लेती हैं। इससे यह परिणाम निकलता है कि क्लोरोफिल प्रकाश की इन्हीं किरणों को ग्रहण कर जीवन-मूल को कार्बन एसिमिलेशन के लिए शक्ति प्रदान करता है। प्रकाश की नीली और बैंगनी किरणें भी क्लोरोफिल में जज़्ब हो जाती हैं; परन्तु इनमें स्टार्च-संश्लेषण बहुत कम होता है। सम्भव है, ये किसी अन्य क्रिया में भाग लेती हों।

पौधों में पत्तियों के क्लोरोप्लैस्ट्स प्रकाश की शक्ति ग्रहण कर यंत्र की भाँति काम करते हैं और जल और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड के मेल से आर्गैनिक पदार्थों की रचना करते हैं। इस क्रिया में, जैसा हम पूर्व ही कह चुके हैं, सबसे पहले बननेवाला कार्बोहाइड्रेट द्राक्षशर्करा (अंगूरी शकर) प्रमाणित होती है। इसका कुछ अंश श्वसन (Respiration) में काम आता है और कुछ खनिज लवणों से मिलकर अन्य आर्गैनिक द्रव्य निर्माण करता है। यथार्थ में हम यह नहीं बता सकते कि ये क्रियाएँ किस ढंग की होती हैं; परन्तु सम्भवतः कई अणुओं के संयोग (Conden-

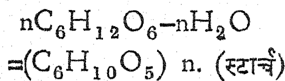
sation) और जल-त्याग से विशेष यौगिक बन जाते हैं । यह संयोग उसी विधि का समझा जाता है जैसा द्राक्ष-शर्करा आदि से सेलूलोज़-जैसे पदार्थ बनने की रचना में होता है ।

द्राक्षशर्करा से साधारण शकर (Cane Sugar) ($C_6H_{22}O_{11}$) तथा माल्टोज़ (Maltose) ($C_6H_{22}O_{11}$) निम्न सूत्र के अनुसार बनता है:—



$$2C_6H_{12}O_6 - H_2O = C_{12}H_{22}O_{11}$$

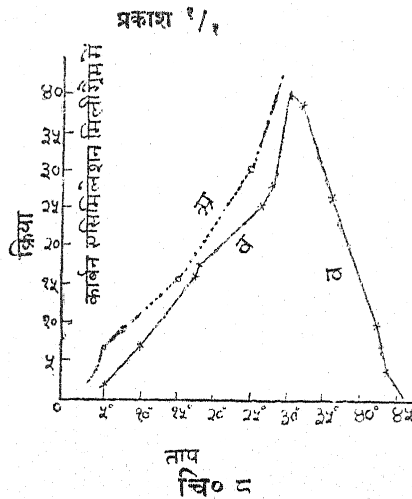
द्राक्षशर्करा से स्टार्च निम्न सूत्र के अनुसार बनता है:—



$$nC_6H_{12}O_6 - nH_2O = (C_6H_{10}O_5)\ n.\ (\text{स्टार्च})$$

सम्भवतः कार्बन एसिमिलेशन में कई प्रवर्त्तक भाग लेते हैं । जाँच से पता चलता है कि इस क्रिया में सबसे पहले क्लोरोप्लैस्ट्स आक्सीडेज़ (Oxidase) प्रवर्त्तक की सहायता और जल और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड के मेल से फार्मैल्डीहाइड बनाते हैं। फिर इस पदार्थ के ६ अणु मिलकर एल्डीहाइडेज (Aldehydase) नामक प्रवर्त्तक की सहायता से डेक्सट्रोज़ (Dextrose) की रचना करते हैं। इस प्रकार कई एक प्रवर्त्तक के सहयोग से एक के बाद दूसरे पदार्थ बनते हैं और सबसे बाद में स्टार्च की रचना होती है ।

कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की मात्रा १·२२%



चि० ८

अ—साधारण रासायनिक क्रिया पर तापक्रम का प्रभाव ।

ब—आलू में फोटोसिन्थिसिस क्रिया पर तापक्रम का प्रभाव । (Lundegarh)

कार्बोहाइड्रेट किस मात्रा में बनता है—पत्तियाँ किस रफ़्तार और मात्रा से स्टार्च तथा अन्य कार्बोहाइड्रेट बनाती हैं इसका दारोमदार बहुत-कुछ फोटोसिन्थिसिस के उपकरणों तथा पौधों की आन्तरिक अवस्था पर है । प्रयोगों से पता चलता है कि साधारण रूप से प्रायः एक वर्गमीटर (१ मीटर = ३६·३७ इंच) पत्ती की सतह से एक घंटे में एक या डेढ़ ग्रैम कार्बोहाइड्रेट बनता है। एक ऋतु के अन्दर इस ढंग से करोड़ों मन कार्बोहाइड्रेट प्राप्त होता है। प्रत्येक फसल में जितनी भी उपज होती है वह सब सीधे व हेरफेर से कार्बन एसिमिलेशन से ही प्राप्त होती है ।

कार्बन एसिमिलेशन के जिस ढंग का यहाँ वर्णन किया गया है वह साधारण हरे पौधों में होता है। इस दशा में पर्णहरित और प्रकाश का होना आवश्यक है ; परन्तु कुछ पौधे ऐसे भी हैं जिनमें पर्णहरित नहीं होता । ऐसे पौधों को कार्बन कैसे मिलता है, हम आगे चलकर विचार करेंगे ; परन्तु इसके पहले हम नाइट्रोजन एसिमिलेशन पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे ।

नाइट्रोजन एसिमिलेशन या प्रोटीन-संश्लेषण

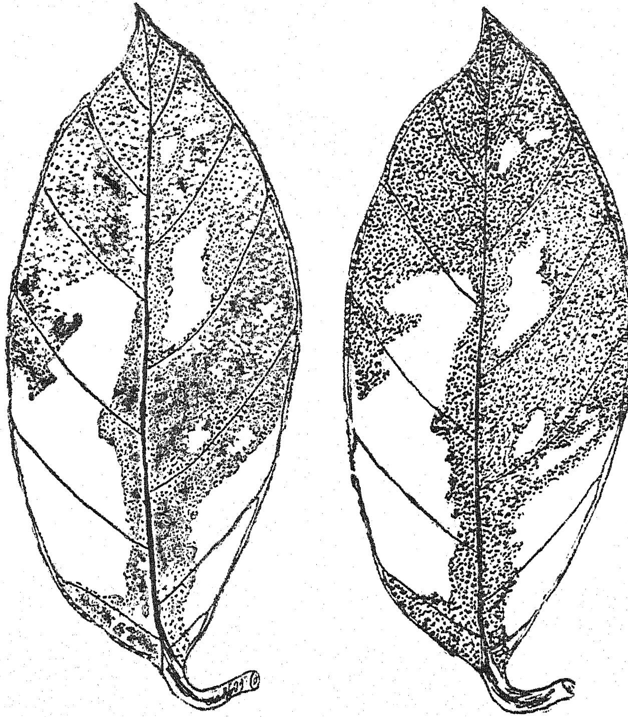
हम पहले ही देख चुके हैं कि पौधों को कार्बन वायु से मिलता है । सम्भव है, हममें से किसी-किसी की यह भी धारणा हो कि इनको नाइट्रोजन भी वहीं से मिल जाती होगी, परन्तु ऐसा नहीं है। वायु में नाइट्रोजन की इतनी अधिक मात्रा रहने पर भी कुछ इने-गिने बैक्टिरिया की जाति के उद्भिजों को छोड़ शेष पेड़-पौधे इसका उपभोग नहीं कर सकते । साधारण पेड़-पौधों को नाइट्रोजन पृथ्वी के खनिज लवणों से ही मिलती है। ये नाइट्रेट या अमोनियम लवणों के रूप में ही होते हैं। नाइट्रोजन जीवों के तन्तुओं का परम आवश्यक भाग है। यह उन द्रव्यों में है जिनसे जीवनमूल की रचना होती है। इसलिए इसकी रचना के लिए यह बड़ा ज़रूरी द्रव्य है। पशुओं को नाइट्रोजन प्रोटीन से मिलता है, जो इन्हें अन्य पशुओं के मांस, अंडा आदि अथवा दालों से मिलता है; परन्तु अन्त में हमें मानना ही पड़ेगा कि प्रोटीन का वास्तविक ज़रिया पौधे ही हैं ।

पौधे के सजीव कोशों में जड़ों से प्राप्त नाइट्रेट व नाइट्रोजन के दूसरे नमक और पत्तियों द्वारा उपार्जित कार्बोहाइड्रेट के मेल से प्रोटीन की रचना होती है। यह क्रिया प्रकाश में अधिक भले ही होती हो, परन्तु फोटोसिन्थिसिस की भाँति, क्लोरोफिल और प्रकाश इसके आवश्यक उपकरण नहीं हैं ।

पौधों के तन्तुओं में पहुँचकर पहले नाइट्रेट नाइट्राइट या अमोनियम के नमकों में बदल जाते हैं। ये नमक अथवा घोलरूप में सीधे आए अमोनियम-लवण, शकर या फार्मैल्डीहाइड के सहयोग से, पहले अमीनो ऐसिड्स या इनके नमकों की रचना करते हैं । अन्त में इन्हीं से प्रवर्त्तकों की सहायता से प्रोटीड बनते हैं। यह तो है

संक्षेप में प्रोटीन सिन्थिसिस की विधि, परन्तु इन परिवर्त्तनों का हमें पूरा-पूरा ज्ञान नहीं। हम अभी तक यह भी नहीं बता सकते कि इन क्रियाओं के कौन-कौन आवश्यक उपकरण हैं।

जहाँ तक पता चलता है, ये क्रियाएँ पत्ती में ही होती हैं। सम्भवतः जिस प्रकार द्राक्षशर्करा के संयोग से स्टार्च या सेलूलोज़ की रचना होती है, उसी ढंग पर अमीनो ऐसिड्स के संयोग से प्रोटीन बनते हैं। कार्बोहाइड्रेट सिन्थिसिस की तरह ख़याल किया जाता है कि यह सहयोग भी कई सीढ़ियों में होता है और उसी भाँति एक के बाद दूसरे बननेवाले पदार्थ अधिक पेचीदा होते जाते हैं। पहले अमीनो-ऐसिड्स से पालीपेप्टिड्स (Polypeptids) और अल्बुमोसेज़ (Albumoses), फिर इनसे पेप्टोन्स (Peptons) और अन्त में पेप्टोन्स से प्रोटीन्स (Proteins) बनते हैं। इन क्रियाओं में प्रवर्त्तकों का बराबर सहयोग रहता है।



चि० ६—चितकबरी पत्ती। क्लोरोफिल और फोटोसिन्थिसिस

अ—आयोडीन से जाँच करने के पूर्व। जिन स्थानों में पर्णहरित नहीं है वे खाली दिखाये गये हैं।

ब—वही पत्ती आयोडीन घोल से स्टार्च की परीक्षा करने के पश्चात्। जिन स्थानों में स्टार्च नहीं बना वे खाली दिखाये गये हैं।

(चि० मि० श० अहमद द्वारा)

प्रोटीन-सिन्थिसिस के लिए सल्फर और फास्फोरस भी आवश्यक हैं। इन द्रव्यों का भी इनके नमकों के घोल रूप में जड़ों द्वारा शोषण होता है। चूँकि प्रोटीन-निर्माण के लिए पहले कार्बन एसिमिलेशन से शकर आदि का बनना ज़रूरी है, इसलिए फोटोसिन्थिसिस के उपकरण इसके लिए भी आवश्यक माने जाते हैं।

प्रोटीन ठोस अथवा अवलम्ब घोल के रूप में ही होते हैं और इसी दशा में इनका अधिकांश भाग जीवनमूल की रचना में शामिल हो जाता है।

वनस्पति वसा

वनस्पति वसा सम्भवतः शकर से उपार्जित होते हैं इसलिए इनका यहाँ पर उल्लेख करना ज़रूरी है। ये ग्लिसरोल और फैटीऐसिड्स के यौगिक हैं। ये द्रव्य पौधों में ठोस और द्रव दोनों ही रूप में मिलते हैं। तेल वसा का तरल रूप है। इस रूप में ये तेल वाले बीजों में मिलते हैं।

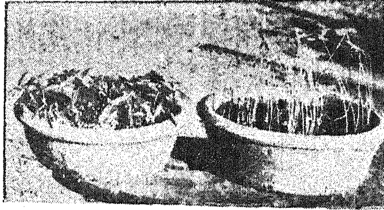
कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीड और वनस्पति वसा, जिनकी हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं, उत्थानात्मक द्रव्यान्तर (Anabolism) से ही बनते हैं; अर्थात् ये पदार्थ संश्लेषण से उपार्जित होते हैं। इन वस्तुओं के अतिरिक्त और भी कुछ द्रव्य इसी प्रकार बनते हैं—आर्गैनिक ऐसिड्स, रंग, गोंद, टैनिन आदि जैसे पदार्थों में भी कोई-कोई पदार्थ इसी प्रकार बनते हैं; परन्तु इनकी रचना का हमें ठीक-ठीक पता नहीं। सम्भव है, इस प्रकार की कितनी ही वस्तुएँ पतनात्मक-द्रव्यान्तर (Katabolism) से उत्पन्न हो जाती हों। इनमें से कोई-कोई तो उत्सृष्ट मल (मलोत्सर्जित वस्तुएँ) हैं, जो पतनात्मक द्रव्यान्तर से ही उत्पन्न हो जाते हैं।

निर्मित पदार्थों का स्थानान्तर और संचय

पौधों की पत्तियों में घुलनशील कार्बोहाइड्रेट और सम्भवतः प्रोटीन बनते हैं। इन निर्मित्त पदार्थों से जीवनमूल, कोश और तन्तुओं की रचना होती है। इन्हीं से पौधों में वृद्धि तथा उनकी सारी इन्द्रिय-व्यापारिक क्रियायें होती हैं। द्रव्य-निर्माण विशेषकर पत्तियों में होता है, परन्तु बाढ़-वृद्धि सभी अंगों में होती है और बहुधा ये अंग पत्तियों से दूर-दूर पर होते हैं। इसके अतिरिक्त द्रव्य-

निर्माण सब दिनों बराबर तेज़ी से नहीं होता। इन कारणों से द्रव्यों का संचय आवश्यक है। शकर, जिसकी सबसे प्रथम कार्बन एसिमिलेशन में रचना होती है और जिस रूप में स्टार्च का स्थानान्तरीकरण होता है, पानी में घुलनशील और प्रसरणशील है, इसलिए यह संचित होने योग्य वस्तु नहीं है। अतः कार्बोहाइड्रेट का संचय प्रायः स्टार्च के रूप में होता है। कभी-कभी इसका संचय अन्य कार्बोहाइड्रेट के रूप में भी होता है।

पत्तियों से उपार्जित द्रव्य बढ़नेवाले अंगों और संचय तन्तुओं में कोशरस में घुले पहुँचते हैं। इनका स्थानान्तरीकरण रसारोहण तन्तु (Phloem) में होकर होता है।



चित्र १०—इन दोनों पात्रों में उर्द के बीज साथ-साथ बोये गये हैं। बाईं ओर का पात्र प्रकाश में तथा दाहिनी ओर ढक कर रक्खा गया था। दोनों के पौधों के अन्तर पर ध्यान दीजिए। (फ़ोटो—श्री ठाकुर)

स्टार्च तथा दूसरे कार्बोहाइड्रेट घुलनशील शकर के रूप में, आवश्यकतानुसार, पौधे के भिन्न-भिन्न अंगों में पहुँचते रहते हैं। इन अंगों में संचित होने के पूर्व ये फिर स्टार्च या कोई दूसरे ऐसे ही कार्बोहाइड्रेट में बदल जाते हैं और इसी रूप में जब तक काम नहीं पड़ता ये संचित रहते हैं।

पत्तियों द्वारा उपार्जित स्टार्च विशेषकर रात के समय संचय-तन्तुओं में पहुँचता है। वैसे तो आवश्यकतानुसार इसका स्थानान्तरीकरण दिन-रात होता रहता है; परन्तु दिन में जितना स्टार्च पत्तियों से अन्य अंग में जाता है उससे कहीं अधिक इनमें बनकर तैयार हो जाता है, इसलिए दिन में पत्तियाँ स्टार्च से हर वक़्त भरी रहती हैं। रात के समय कार्बन एसिमिलेशन नहीं होता; परन्तु स्थानान्तरीकरण होता रहता है। इस प्रकार अक्सर रात भर में पत्तियों से स्टार्च निकलकर अन्य अंगों में पहुँच जाता है और वे क़रीब-क़रीब ख़ाली हो जाती हैं। स्थानान्तर की क्रिया पत्ती की नसों में होकर होती है।

प्रयोग—किसी साधारण पौधे की पत्तियों को सुबह और शाम इकट्ठी कर अलग-अलग स्टार्च की जाँच कीजिए। प्रायः आप देखेंगे कि शाम को तोड़ी पत्तियाँ स्टार्च से भरी हैं; परन्तु सुबह को इकट्ठी की गई पत्तियों में बहुत थोड़ा या बिल्कुल स्टार्च नहीं है। अब यदि आप शाम होते ही कुछ पत्तियों की प्रधान नस काट दें और फिर सुबह इनकी स्टार्च के लिए जाँच करें तो इनमें लगभग उतना ही स्टार्च मिलेगा जितना कि शाम को इकट्ठी की गई पत्तियों में। बात यह है कि नस काट देने से पत्ती का स्टार्च उससे निकलकर दूसरी जगह नहीं जा सकता, अतः स्टार्च का रात के समय नसों में होकर स्थानान्तरीकरण होता है। इस बात की परीक्षा हम एक और तरह भी कर सकते हैं।

किसी प्रकाश में रक्खे पौधे की कुछ पत्तियों का आधा हिस्सा शाम को और बाक़ी का आधा सुबह काटकर पहले की तरह स्टार्च की जाँच कीजिए। केवल उसी भाग में स्टार्च मिलेगा, जो शाम को इकट्ठा किया गया है (चि० ११)।

संचय पदार्थ

संचय-तन्तुओं में पहुँचने के पश्चात् उपार्जित द्रव्य संचय-पदार्थों में बदल जाते हैं। इन संचित द्रव्यों के तीन विशेष भेद हैं—कार्बोहाइड्रेट (Carbohydrate), प्रोटीड (Proteid) और वनस्पति वसा तथा तेल (Fats and Oils)।

संचित पदार्थ ही हमारी-आपकी ख़ूराक हैं और इन्हीं से पौधों में बाढ़-वृद्धि तथा काम-काज होते हैं।

कार्बोहाइड्रेट—संचित कार्बोहाइड्रेट में स्टार्च मुख्य है। यह आलू और कितने ही कंद-मूल और बीजों में संचित रहता है। इसके दाने कई भाँति के होते हैं (दे० अं० ४ चि० ७)। खजूर तथा छुहारे के बीजों में कार्बोहाइड्रेट छिद्रोज के रूप में संचित रहता है और डहलिया की जड़ों में इनूलिन (Inulin) के रूप में। संचित कार्बोहाइड्रेट ज़रूरत पड़ने पर प्रवर्त्तकों की सहायता से घुलनशील और प्रसरणशील कार्बोहाइड्रेट में बदल जाते हैं।

प्रोटीड—प्रोटीड ठोस रूप में संचित रहते हैं। तेलवाले बीजों में ये प्रोटीन स्फटिकों के रूप में मिलते हैं और गेहूँ आदि के दानों में कणों के रूप में (अं० ४ चि० ७)।

वनस्पति वसा और तेल—वसा तरल और ठोस दोनों ही भाँति संचित मिलता है। इसका तरल रूप तेल है।

प्रवर्त्तक (Enzymes)

प्रवर्त्तक अवलम्ब घोल के गुणवाले निर्जीव आर्गैनिक द्रव्य हैं। ये संचित पदार्थों को घुलनशील और निस्सरणीय बनाते हैं। इन्हीं के प्रभाव से हमारे-आपके उदर में भोजन पचता है। सम्भव है, ये जीवनमूल के विदारण से उत्पन्न हो जाते हों।

प्रत्येक प्रवर्त्तक का किसी-न-किसी विशेष रासायनिक क्रिया पर प्रभाव पड़ता है। ये उत्प्रेरक रूप से काम करते

हैं और इनके प्रभाव से क्रियायें तेज पड़ जाती हैं। भिन्न-भिन्न द्रव्यों को घुलन और प्रसरणशील बनानेवाले अलग-अलग प्रवर्त्तक हैं। ऊपर हम कुछ ऐसे प्रवर्त्तक तथा उनके महत्व का उल्लेख कर चुके हैं। यहाँ हम कुछ और ऐसे प्रवर्त्तकों पर विचार करेंगे।

साइटेज़ (Cytase) नाम का प्रवर्त्तक संचित छिद्रोज को एक प्रकार की घुलनशील और प्रसरणशील शकर में बदल देता है।

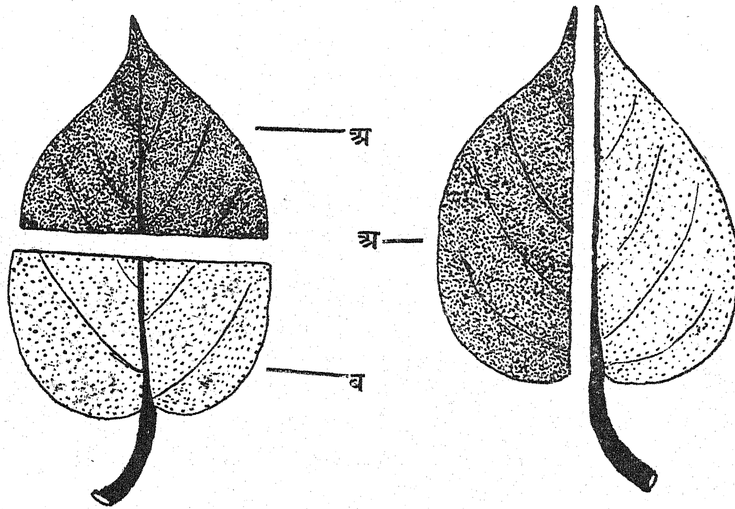
इनूलेज़ (Inulase) प्रवर्त्तक के प्रभाव से इनूलिन (Inulin) प्रसरणशील द्रव्य में बदल जाता है।

लाइपेज़ (Lipase) प्रवर्त्तक की क्रियाओं से वसा और तेल फैटी-ऐसिड्स और मधुरीन में बदल जाते हैं। ये दोनों ही वस्तुएँ घुलन-और प्रसरण-शील हैं।

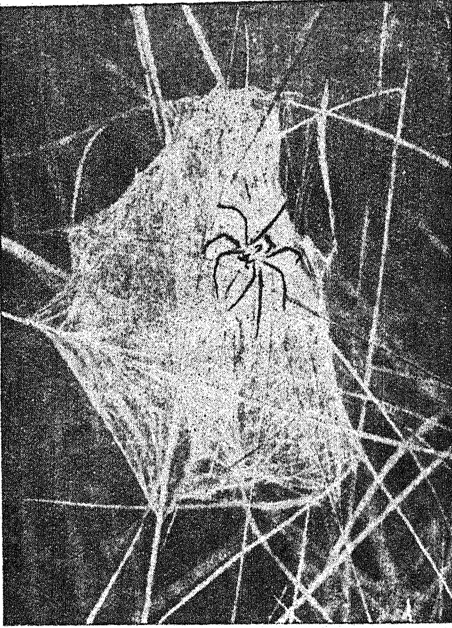
पेप्टेज़ (Peptase) प्रवर्त्तक प्रोटीड को पेप्टोन्स में पलटता है। पेप्टोन्स घुलनशील और प्रसरणशील द्रव्य है।

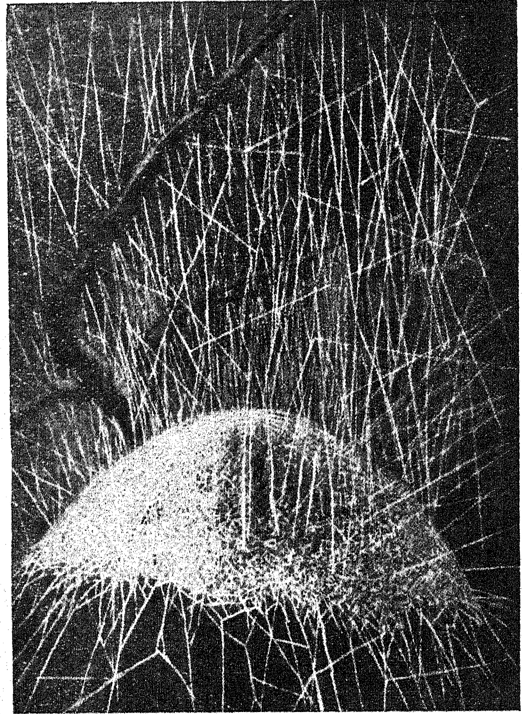
इस तरह वायुमंडल के कार्बन डाइ-ऑक्साइड और जड़ों द्वारा संचित पृथ्वी के जल और नमकों के मेल और सूरज की रोशनी की सहायता से पौधे की हरी पत्तियों में पहले शकर या इस श्रेणी के दूसरे रासायनिक पदार्थ तैयार होते हैं जो अनेक रासायनिक क्रियाओं के बाद स्टार्च, प्रोटीन और अन्य अनेक वानस्पतिक द्रव्यों में बदल कर संचित होते रहते हैं। प्रयोजन पड़ने पर ये संचित द्रव्य प्रवर्त्तकों की सहायता से आवश्यकतानुसार घुलकर निस्सरित होते हैं। प्रवर्त्तकों की ये क्रियायें उसी भाँति की हैं, जैसी हमारे उदर की अनेक पाचन-क्रियायें। जिस तरह हमारे पेट में पहुँचे आहार, रसों की सहायता से, पचकर रुधिर से मिल शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में जाकर उन्हें पुष्ट कर हमें बल पहुँचाते हैं, उसी प्रकार पौधों में भी अनेक संचित तथा उपार्जित द्रव्य रसों के संयोग से कोशरस से घुल-मिलकर प्रत्येक अंग में पहुँच कोशों और तन्तुओं की वृद्धि कर उन्हें काम-काज के लिए शक्ति प्रदान करते हैं।

परन्तु स्टार्च, प्रोटीन अथवा दूसरे ऐसे उपार्जित और संचित द्रव्य पौधों का सजीव भाग नहीं हैं। ये केवल जीवनमूल के बीच एकत्र रहते हैं। इन वस्तुओं की ठीक वैसी ही दशा है जैसी कि हमारे उदर में पहुँचे अन्न की। जिस प्रकार ऐसा अन्न हमारे अंग का यथार्थ भाग हो जाने के पूर्व निर्जीव अन्न से सजीव जीवनमूल में बदल जाता है, उसी भाँति ये वस्तुएँ भी सजीव जीवनमूल में बदल जाती हैं। यह एक विलक्षण रहस्य है, जिससे हम निरे अनभिज्ञ हैं। यहीं पर हमारा सारा वैज्ञानिक अहंकार चूर-चूर हो जाता है और हमें हताश हो हार माननी पड़ती है। हम बराबर देखते हैं कि निर्जीव जल, नमक व हवा के संयोग से सजीव जीवनमूल की रचना होती रहती है, परन्तु यह क्रिया कैसे होती है हमारे चतुर से चतुर वैज्ञानिक भी नहीं बता सकते। अनेक छानबीन और अनुसंधान के पश्चात् हम केवल इस मूल तत्त्व पर पहुँचे हैं कि निर्जीव पदार्थ से सजीव जीवनमूल बनाने की सामर्थ्य केवल जानदारों के अंगों में ही मिलती है। हम अपनी रसायनशालाओं में स्टार्च, प्रोटीन तथा वसा-जैसे पदार्थ बनाकर इन्हें जीवनमूल की सहायता बिना पचा भी सकते हैं; परन्तु चतुर से चतुर वैज्ञानिक भी जीवनमूल के एक अणु की भी रचना नहीं कर सकता। यह विशेषता केवल जीवनमूल की ही है, अर्थात् जीवों से ही जीव की उत्पत्ति होती है।

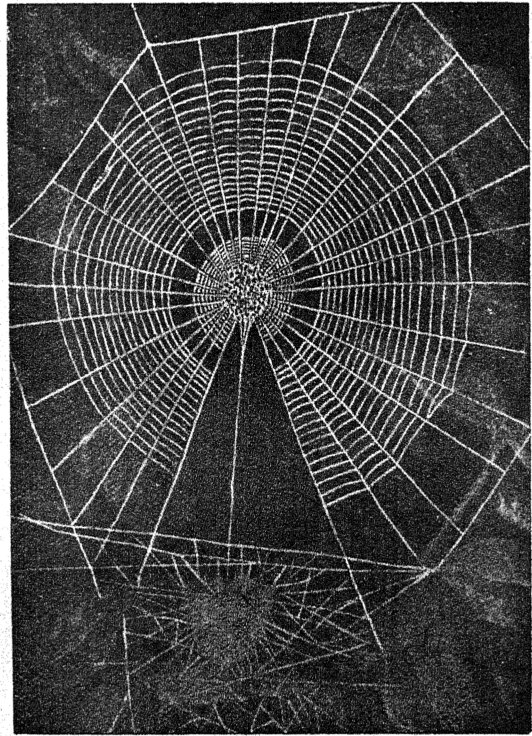


चित्र ११—पत्ती से स्टार्च का स्थानान्तरीकरण
आयोडीन घोल से स्टार्च की जाँच करने पर (अ) पत्ती का वह भाग जो शाम को इकट्ठा किया गया है और (ब) वह भाग जो सुबह इकट्ठा किया गया है (चित्र मि० शम्सुद्दीन अहमद द्वारा)।









जीवधारियों की निर्माण-कला के कुछ उत्कृष्ट नमूने—मकड़ियों के रेशमी तार से बुने हुए तरह-तरह के जाले



जानवरों के व्यवसाय और उनकी निर्माण-कला

मनुष्य के आर्थिक जीवन का अधिकांश समय अपने पेट पालने का प्रबन्ध करने, अपनी पूँजी को दूसरों से बचाने, उसकी देख-भाल करने और अपनी तथा कुटुम्ब की रक्षा के लिए यथायोग्य रहने की जगह बनाने में ही व्यतीत हो जाता है। यही हाल जानवरों का भी है। उनमें से बहुत-से असभ्य, जंगली मनुष्यों की तरह केवल शिकार ही नहीं करते, वरन् कुछ सभ्य मानव-जातियों के समान खलियानों में अनाज इकट्ठा करते, खेती करते और अन्य जानवरों को भी पालते हैं! अपने रहने के लिए वे तरह-तरह के भिटे, बड़े विचित्र घोंसले तथा काग़ज़, रेशम, मिट्टी और लकड़ी के घर बनाते हैं। शिकार करने और दूसरों को अपने फन्दे में फँसाने के लिए वे तरह-तरह के ढोंग रचते और सुन्दर जाल बनाते हैं। उनमें काग़ज़ और रेशम बनानेवाले कारीगर, जुलाहे, दर्ज़ी, राज और मैमार भी हैं। आइए, इस लेख में आपको इन्हीं का हाल बताया जाय। विषय इतना बड़ा और रोचक है कि इस पर एक पूरी किताब लिखी जा सकती है, अतएव यहाँ उनमें से कुछ चुने हुए उदाहरण ही दिये जायँगे।

जन्तु-जगत् का अध्ययन करनेवालों की निगाह से यह बात नहीं बच सकती कि तरह-तरह के जीवों में से कुछ में मनुष्य के-से ही व्यवसाय स्वीकार करने की रुझान पाई जाती है। उनमें से बहुत-से कुशल शिकारी और जाल में फँसानेवाले जीव हैं, जैसे कौडिस वर्म और मकड़ी। कुछ अरोमांचक हैं, किन्तु उपयोगी मेहतर का काम करते हैं। बहुत-से निर्माण-कला में चतुराई दिखाते हैं। कुछ बिना हाथों के ही घर बनाते हैं और रक्षा के लिए धुस भी रचते हैं। दूसरे अपने छोटे-छोटे बच्चों के लिए पालने बनाते हैं। कुछ भोजन एकत्र करने के लिए कोठरियाँ बनाते हैं। कीड़े-मकोड़ों ने तो अपनी प्रवीणता से कल्पना में आनेवाली प्रत्येक वस्तु से काम लिया है। शहद की मक्खियाँ फूलों के सार से मोम बना लेती हैं। बर्रें लकड़ी को चबाकर काग़ज़ और दफ़्ती तैयार कर लेती हैं। दीमक मिट्टी के ऐसे ऊँचे-ऊँचे टीले बना लेती हैं कि जो कुदाले या फावड़े से भी सहज में नहीं टूटते और जिनके ऊपर बड़े-बड़े पेड़ भी सध जाते हैं। मकड़ियाँ और अन्य कीड़ों के इल्ले रेशम बुनकर अपने लिए घर बनाते हैं। बहुतेरे केकड़े, कीड़े, मकड़ी इत्यादि सुरंगें भी बनाते हैं। बहुतेरी चिड़ियाँ और कुछ मछलियाँ पेचीदा और सुन्दर घोंसले बनाती हैं। कुछ स्तनधारी जीव अपने रहने के लिए न केवल बड़ी ही आश्चर्यजनक गुफाएँ और सुरंगें ही वरन् लकड़ी और मिट्टी के कमरे तैयार करते हैं। ऐसी ही चतुराई और इंजीनियरी की बातों का मनोरंजक वर्णन आगे दिया जा रहा है।

शिकार करने के कुछ विचित्र ढंग

पशुओं में व्यवसाय का सबसे पहला कारण भोजन की खोज ही है। शाकाहारियों को अपनी जीविका प्राप्त करने में अधिक परिश्रम और बुद्धि की ज़रूरत नहीं पड़ती, परन्तु मांसभोजियों के लिए ज़रूरी होता है कि अच्छी ऋतुओं में और उन स्थानों में भी जहाँ उन्हें अपने शिकार बहुतायत से मिलते हैं, अपने सशंकित, तेज़ी से भागने और छिपनेवाले शिकार को वश में करने के लिए विशेष फुर्ती, बल, योग्यता और तरह-तरह के प्रबन्धों से काम लें। इसलिए शिकार करने के ढंगों के अच्छे-अच्छे नमूने हमको इन्हीं जीवों में मिल सकते हैं। मनुष्य की ही भाँति कुछ जीव टट्टी की आड़ से शिकार खेलते या दौड़कर उनका पीछा करते हैं। दूसरे जानते हैं कि कैसे अपने शिकार पर कोई चीज़ फेंककर उसे उलट दें या उसको डराकर ऐसा अचेत और असहाय कर दें कि वह सुगमता से पकड़ लिया जाय। हम सब जानते हैं कि शेर, चीते आदि फाड़कर खानेवाले जीव झाड़ियों की आड़ में छिपकर कैसे दूसरे जानवरों पर आक्रमण करते हैं और किस प्रकार बाज़ अपनी तेज़ उड़ान के कारण ही कबूतरों का पीछा करके उन्हें पकड़ लेता है। शायद

ही आपको इसका अनुभव हो कि मगर की तरह बड़ा जीव नदी के किनारे पर बैठी हुई चिड़ियों को कैसे चुपके-चुपके उनके पास तक पहुँचकर हड़प कर जाता है। वह चिड़ियों के किसी झुंड को किनारे पर बैठा देखकर दूर से ही ग़ोता लगा जाता है और पानी के भीतर-ही-भीतर चुपचाप तैरता हुआ इस अन्दाज़ से एकाएक अपना भयंकर विशाल मुँह खोलकर उनके सामने उपस्थित हो जाता है कि इस अज्ञात विपत्ति को देखकर चिड़ियाँ क्षण-भर के लिए सहम जाती हैं और अचल-सी हो जाती हैं। इतने ही में दो-चार अभागी तो मगर के मुँह में पहुँच जाती हैं और शेष सब उड़ जाती हैं। ऐसी ही मक्कारी और निर्दयता से यह जलवासी जानवर न केवल तट पर पानी पीने को आये हुए कुत्ते, बैल और घोड़ों आदि जानवरों को ही वरन् मनुष्य को भी झटक लेता है। हम नित्य ही देखते हैं कि ज़मीन पर रेंगनेवाली छिपकली रोशनी के पास आये हुए उड़नेवाले पतंगों को कैसी तेज़ी से ज़बान निकालकर मुँह में घसीट लेती है। कुत्ते, भेड़िये, लोमड़ियाँ इत्यादि झुंड बनाकर दूसरों का शिकार करते हैं। पानी के सोते तक जानेवाले जानवरों की राह में जो घात अजगर लगाता है वह सबसे भयंकर घातों में से है। यह विशाल सर्प वृक्ष की डाल से लता की तरह लटका रहता है और जब कोई हमला करने योग्य पशु उसकी पहुँच में आता है तो वह उसको पकड़कर उसके चारों ओर लिपट जाता है और कड़ी गाँठ बाँधकर धीरे-धीरे उसे चूर कर डालता है। इस प्रकार की सैकड़ों मिसालें आप जानते होंगे, इसलिए यहाँ इनको लिखकर हम आपका समय नष्ट नहीं करना चाहते।

शिकार और शिकारी में होनेवाली सबसे अनूठी लड़ाई हमारी समझ में अफ्रीका के सर्पघातक 'सेक्रेटरी' नामक पक्षी और साँप में होती है। इसके देखने में वास्तव में पटेबाज़ी के खेल का मज़ा आता है। वह नेवले और साँप की लड़ाई को भी मात कर देती है। यह बड़ी चिड़िया विषैले-से-विषैले साँप का पीछा करती है। वह जानती है कि साँप का एक भी दाँत अगर उस पर पड़ गया तो उसे अपनी जान से हाथ धोना पड़ेगा; इसीलिए उसको इस प्रकार हमला करना पड़ता है कि साँप तो चोट खाये और वह उसके दाँत से बची रहे। इस भयंकर शत्रु को देखते ही साँप पहले भागकर अपने प्राण बचाना चाहता है और चिड़िया ज़मीन पर तेज़ी से दौड़ती हुई उसका पीछा करती है। जब वह साँप के निकट पहुँच जाती है तो सर्प एकाएक पीछे मुड़कर फन उठाकर आक्रमण करने के लिए मुस्तैद हो जाता है। चिड़िया भी खड़ी हो जाती है और अपना एक डैना नीचे के शरीर को बचाने के लिए साँप की ओर नीचे फैला देती है। तब असली लड़ाई शुरू होती है। साँप अपने शत्रु पर टूट पड़ता है और दाँत मारता है। चिड़िया प्रत्येक चोट अपने डैने के छोर पर रोकती है। विष-भरे दाँत डैने के बड़े परों के सिरे में घुसकर विष निकाल देते हैं, लेकिन चिड़िया पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता। इस प्रकार साँप की चोटों को बराबर रोकते हुए दूसरे बाज़ू से चिड़िया साँप को बराबर ज़ोरों से पीटती जाती है। अन्त में चोटों से घायल होकर साँप मूर्च्छित होकर भूमि पर लोट जाता है। तब विजयिनी चिड़िया तेज़ी से अपनी चोंच उसकी खोपड़ी में घुसेड़ देती है और अपने शिकार को ख़ुशी के मारे हवा में उछाल देती तथा अंत में उसे निगल जाती है।

अस्त्र से शिकार करना

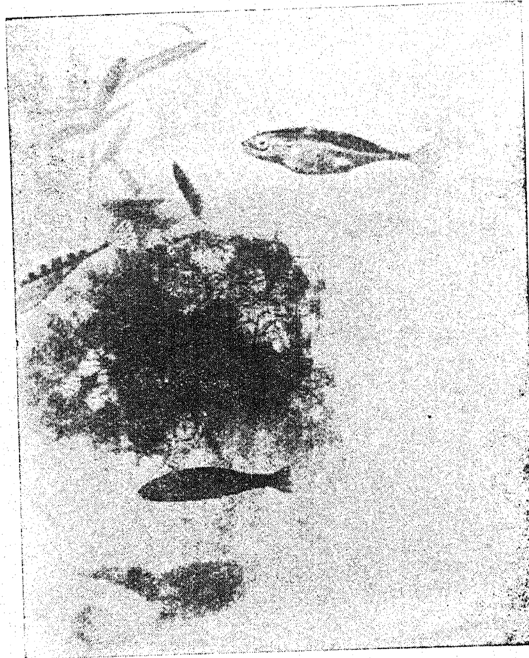
जीवधारियों में केवल मनुष्य ही इतना चालाक प्राणी नहीं है जो पत्थर, डंडा, गोली, बाण इत्यादि फेंककर अपने से दूर के जीवधारियों पर आक्रमण करता है। हाथी गुस्सा होने पर अपनी सूँड़ से डंडा उठाकर फेंककर मारता है। कई एक मछली-जैसे छोटे जीव दूर के शिकार तक पहुँचने में अत्यन्त निपुणता दिखलाते हैं। भारतीय नदियों में रहनेवाली एक मछली का मुख्य भोजन पानी में उगनेवाले पौधों के पत्तों पर रेंगनेवाले कीड़े हैं। यदि वह इस प्रतीक्षा में रहे कि पेड़ से कीड़े पानी में गिर जायँ तभी उन्हें खाए तो उसे पेट भर भोजन न प्राप्त हो सके। उसके लिए उछलकर उन तक पहुँचना कठिन ही नहीं है बल्कि आवाज़ होने से उनके भाग जाने का भी भय है। इसलिए उसने अपने मतलब के लिए एक निराला ढंग निकाल लिया है। वह अपने मुँह में कुछ पानी भर लेती है और फिर उसे इस ज़ोर से ठीक उन कीड़ों की ओर फ़व्वारे की धार की तरह फेंकती है कि वे पानी में आ गिरते हैं और उसे आहार मिल जाता है। जावा की कैलीनस नामक एक और मछली भी ऐसा ही करती है। कहा जाता है कि वह मुँह से पानी की पिचकारी चलाकर कई फ़ीट के फ़ासले से मक्खी को मार गिराती है। अक्सर वह पहले ही निशाने में सफल हो जाती है, किन्तु कभी-कभी उसका निशाना चूक भी जाता है। ऐसा होने पर वह फिर कोशिश करती है जब तक सफलता प्राप्त न हो जाय। इससे साफ़ पता चलता है कि वह जानती है कि उसे क्या करना है। चीनी इन अजीब मछलियों को बरतनों में पालते हैं और उनसे यह

परिश्रम कराकर अपना मन-बहलाव किया करते हैं।

रक्षा के उपाय

जीवन के संग्राम-क्षेत्र में एक ओर शिकारी जानवर यदि लड़ाई-झगड़ा और हमला करने में व्यस्त रहते हैं तो दूसरी ओर वे जानवर जिन पर हमले होते हैं अपनी और अपने कुटुम्ब की रक्षा की विविध युक्तियाँ किया करते हैं। शत्रु से जान बचाने का सबसे सुगम उपाय भाग जाना है; किन्तु भागने में भी बहुत-से जीव बड़ी ही चतुराई से काम लेते हैं। कहा जाता है कि वानर भागने में बड़ी बहादुरी और बुद्धि से काम लेते हैं। जब उनके सम्मुख ऐसा संकट उपस्थित हो जाता है जिस पर उनके और उपाय काम नहीं देते तब वे भागने की सोचते हैं। वे घबड़ाये हुए जानवरों की तरह बेतहाशा भागते ही नहीं जाते हैं, बल्कि भागते हुए पीछा करनेवाले जीव के मार्ग में जो रुकावटें डाल सकते हैं उन सबसे भी काम लेते जाते हैं। वे भागने में बहुत जल्दी नहीं करते, न छिपने का उन्हें जो पहला ही मौक़ा मिलता है उसे ही हाथ से जाने देते हैं। माता अपने बच्चे को पीछे छोड़कर कभी आगे नहीं बढ़ती। यदि कोई बच्चा पीछे रह भी जाता है और उसके पकड़े जाने का डर होता है तो झुंड के बूढ़े और अनुभवी नर अपनी जान को संकट में डालकर उस बच्चे को बचाने के लिए वीरता से पीछे लौट जाते हैं। इस सम्बन्ध में उनकी बहुतेरी वीरताओं के उदाहरण मिलते हैं।

कठफोड़वा नामक चिड़िया बाज़ से पीछा किये जाने पर जो पहला सूराख़ मिलता है उसी में घुस जाती है। यदि कोई सूराख़ नहीं मिलता है तो वह किसी पेड़ के तने को अपने तेज़ चंगुलों से पकड़कर उससे चिपट जाती है और उस तने के ही चारों तरफ़ उससे चिपटी हुई चक्कर काटने लगती है। उड़ता हुआ बाज़ ऊपर से इसको देख नहीं पाता और इस तरकीब से वह अक्सर बच जाती है। दक्षिणी अमेरिका की पौलीएर्गस नामक ग़ुलाम रखनेवाली चींटी जब फ़ौर्मिका जाति की चींटियों पर उनके इल्लों और बच्चों को छीनने के लिए आक्रमण करती है तो अवसर पाकर ये चींटियाँ जल्दी से घास की पत्तियों की चोटी पर चढ़ जाती हैं और उसी पर अपने इल्लों को छोड़ देती हैं, क्योंकि शत्रु-चींटियाँ भारी होने के कारण आसानी से घास पर नहीं चढ़ पातीं।



इस चित्र में इंगलैंड की कँटीली पीठवाली स्टिकलबैक नामक मछली के जल के भीतर बने एक घोंसले का दृश्य है। विवरण के लिए पृष्ठ १६८३ का मैटर पढ़िए।

मृत्यु का बहाना करना

बहुतेरे पशु जब भागकर ख़तरे से नहीं बच पाते तो धोखे से काम लेते हैं। इस सम्बन्ध में मौत का बहाना करने का उपाय विशेष रूप से प्रचलित है। बहुत-सी मकड़ियाँ और गुबरीले खटका होने पर ऐसे बन जाते हैं मानों वे बिल्कुल मर गये हों। वे बिल्कुल सन्नाटे में पड़े रहते हैं। उनकी न टाँगें हिलती हैं और न सींग। वीर-बहूटी छूते ही हाथ-पैर समेटकर ऐसी चुप पड़ जाती है मानों वह मर गई हो। जाला पूरनेवाली मकड़ी खटका होने से देखते-ही-देखते बड़ी फ़ुर्ती से जाला पूरती हुई ज़मीन पर ऐसी आ गिरती है मानो किसी ने गोली मार दी हो। वह टाँगों को समेट ज़मीन पर ऐसी चुप पड़ जाती है कि जल्दी दिखलाई भी नहीं पड़ती। उस अवस्था में उसको हाथ में ले लीजिए, पकड़िए, घुमाइए, उलटिए, पलटिए, लेकिन वह ज्यों-की-त्यों मरी-सी पड़ी रहती है। जब ख़तरे का डर नहीं रहता तब वह धीरे से एक-आध टाँग फैलाकर आहट लेती है। किन्तु ज़रा-सा भी खटका पाते ही फिर सिकुड़कर अचेत बन जाती है।

मछलियों में गंठा (Perch) और स्टर्जियन तथा चिड़ियों में लावा के बारे में कहा जाता है कि वे मृत्यु का धोखा देती हैं। स्तनपोषियों में सर्वप्रसिद्ध उदाहरण ओपौसुम का

है। दक्षिणी अमेरिका का ओपौसुम खेतों में मुर्ग़ियों को पकड़ने के लिए घुसता है। ज्यों ही खेतवालों को उसका पता लगता है वह भाग निकलता है, लेकिन जल्द पकड़ जाता है और तब डंडों की बौछार उस पर होने लगती है। उस समय वह बेचारा अपनी जान बचाने के लिए सिर को नीचे गिराकर टाँगों को फैलाकर चुपचाप पड़ जाता है और बिना हिचके डंडों की चोट खाता रहता है। प्रायः मरा समझकर खेतवाले उसको छोड़ जाते हैं और तब वह मक्कार घायल जीव उठकर शरीर को झाड़ता और अपनी जान लिये जंगल को भाग निकलता है।

चौकीदारी करना

झुंडों में रहनेवाले बहुत-से जानवर जैसे बन्दर, हाथी, हिरन, चिकारे आदि अपने में से एक को, जो अनुभवी और वीर होता है, अगुआ मानते हैं। साधारणतया यह नेता जंगल के रास्तों और ख़तरों से परिचित होता है, इसलिए शेष दल उसकी सलाह के अनुसार ही काम करता है। बहुत-से दूसरे जानवर अपने कुशल-क्षेम को केवल एक व्यक्ति के सुपुर्द नहीं करते, बल्कि अपने ठहरने या रहने के स्थान के आस-पास कई पहरेदार नियुक्त कर देते हैं, जो उन सबकी सम्पत्ति की रखवाली करते हैं। प्रेयरी के मैदानों में रहनेवाले साइनोमीज़ नामक कुत्तों तथा कौओं, तोतों एवं और भी बहुतेरे जानवरों में यह रीति प्रचलित है। कौओं के चौकीदार न केवल चौकन्ने ही होते, वरन् बड़े समझदार भी होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये चालाक पक्षी बन्दूक़ और लाठी लिये हुये आदमियों में भेद पहचान लेते हैं और अपने साथियों को कभी ग़लत चेतावनी नहीं देते। इसका एक उदाहरण सुन लीजिये। ६-७ वर्ष पहले की बात है। प्रयाग-विश्वविद्यालय में एक ईसाई जमादार था। वह शिकार में बड़ा कुशल था। उस समय एक विद्यार्थी, जो कौओं में पाये जानेवाले कीटाणुओं के विषय में अध्ययन कर रहा था, इसी जमादार से कौए मरवाया करता था। थोड़े ही दिनों में कौए उसको ऐसा पहचान गए थे कि जैसे ही उसको विश्वविद्यालय के हाते के पास देखते, वे काँव-काँव करके चिल्लाने लगते और भाग जाते थे।

इस प्रकार अनेकों ही जानवर अपने जीवन को संकट में देखकर उसको बचाने के लिए नाना प्रकार के उपाय किया करते हैं। शिकार करने और उससे बचने के अलावा बहुत-से जानवर और भी धंधों में लिप्त रहते हैं। चूहे-चींटी की तरह वे अवसर पाने पर अनाज तथा अन्य भोजन-सामग्री लाकर इकट्ठी कर लेते हैं। कोई-कोई खलियान बनाते और कोई छोटी-छोटी गायें पालते तथा कुछ खेती भी करते हैं। दो गुबरीले अपने शरीर से कई गुनी बड़ी सूखे गोबर की गोलियाँ बड़ी सुन्दरतापूर्वक ढकेलकर अपने घरों में ले जाते हैं। ऐसे भी जीव हैं जो अंडे से निकलनेवाले बच्चों के लिए कीड़े पकड़ और मारकर बन्द कर देते हैं; जैसे—लखेरी। किन्तु स्थानाभाव के कारण इनका विवरण यहीं छोड़कर हम अब पशुओं की गृह-निर्माण-कला की ओर बढ़ रहे हैं।



बया नामक पक्षी के विचित्र घोंसले का दृश्य। हमारे देश में वनों में वृक्षों की डालियों पर प्रायः ये घोंसले लटकते दिखाई देते हैं। विशेष विवरण के लिए दे० १६८४ पृ० का मैटर।

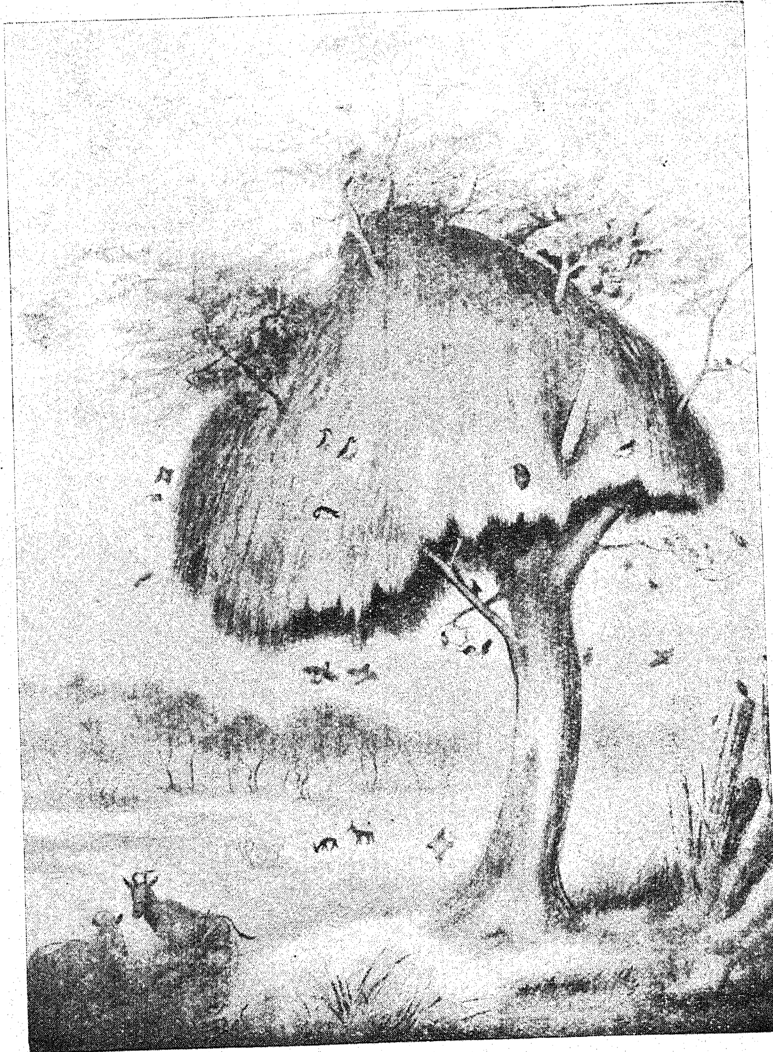
घोंसला बनाना

सारी प्राकृतिक दुनिया में पक्षियों की दस्तकारी से अधिक प्रशंसा के योग्य कदाचित् ही कोई और वस्तु हो। भाँति-भाँति के चिड़ियों के घोंसले तो आप सभी ने देखे होंगे, किन्तु चिड़ियों को छोड़कर और जीव भी घोंसले बनाते हैं यह शायद आपको ज्ञात न हो। कुछ मछलियाँ, कुछ स्तनधारी और कुछ चींटियाँ भी घोंसले तैयार करती हैं। कुछ चिड़ियाँ ऐसी भी हैं जो बिना घोंसलों के ही निर्वाह

करती हैं, कुछ ऐसी भी हैं जो धरती में या दीवाल के सूराख़ों में घोंसले रखती हैं। इन सबका वर्णन यदि हम करने लगें तो एक बड़ी पोथी तैयार हो जाय।

मछलियों की निर्माण-कला

योरप और अमेरिका की नदियों और समुद्रों में रहनेवाली स्टिकलबैक जाति की मछलियाँ चिड़ियों की तरह घास और तिनकों का घोंसला बनाने के लिए सबसे विख्यात हैं। ये छोटी-छोटी कँटीली पीठवाली मनोहर मछलियाँ अंडा देने की ऋतु में पानी में बहते हुए घास, तिनके इत्यादि को मुँह से पकड़कर चुने हुए स्थान पर इकट्ठा करती हैं। विचित्रता तो यह है कि इन मछलियों में घोंसला बनाने और उसकी रक्षा करने का कार्य मातायें ही नहीं बल्कि पिता भी करते हैं। नर मछलियाँ दौड़-दौड़कर बड़े परिश्रम से सूखी या गीली घास, व सूत-सी पतली जड़ें लाकर इच्छानुकूल तथा आवश्यकतानुसार उन्हें सजाती हैं। वे अपने मुँह से एक प्रकार की लसलसी चीज़ निकालकर उन्हें एक दूसरे से चिपकाती जाती हैं और उन्हें बहने से रोकती हैं। जब घोंसला पूर्ण होने के समीप होता है तो नर मछलियाँ उसके चारों ओर घूम-घूमकर इस प्रकार देखती हैं मानों अपने परिश्रम के सफल हो जाने पर प्रसन्न हो रही हों। घोंसले में इस पार से उस पार तक एक सूराख़ या मार्ग रहता है (जैसा १६८१ पृष्ठ के चित्र से स्पष्ट होता है)। सूराख़ में होकर अंडों के ऊपर से बराबर पानी बहता रहता है। साधारणतया घोंसला छिछले पानी की तह में निकले हुए पेड़ों या चट्टानों पर बनाया जाता है।



वृक्ष पर बना हुआ यह फूस के झोंपड़े की शक्ल का बड़ा-सा घोंसला दक्षिणी अफ्रीका के समाजप्रिय बया जैसे पक्षियों द्वारा बनाया गया है। यह एक घोंसला नहीं बल्कि पक्षियों का एक पूरा नगर है जिसमें एक साथ ही ये चिड़ियाँ निवास करती हैं। यह बृहत् रचना निस्संदेह जीवधारियों की कला और सहयोग का उत्कृष्ट उदाहरण है और मनुष्य के आवासस्थानों को भी मात करती है।

घोंसला बन जाने पर नर मादा मछली की खोज में इधर-उधर जाता है और ज्यों ही उसे कोई सुन्दर मादा मिल जाती है तो उसे बहका-फुसलाकर अपना घोंसला दिखलाने लाता है। कभी तो वह अपने आप उसके साथ तैरती चली आती है और कभी वह इनकार कर देती है। तब नर गुस्से से लाल हो जाता है और उसका पीछा करके अपने घोंसले की ओर ले आता है तथा मछली को खदेड़कर घोंसले के अन्दर घुसा देता है। भीतर पहुँचने पर

बहुधा मादा स्वभाववश अंडे दे देती है और दूसरे सूराख़ से बाहर चली जाती है। तत्पश्चात् नर भीतर जाकर अंडों को अच्छी तरह देखता है। उसकी समझ से यदि वे काफ़ी नहीं होते तो वह फिर किसी दूसरी की तलाश में जाता है। जब काफ़ी अंडे उसमें हो जाते हैं तो पिता स्वरचित बहुमूल्य घोंसले की रात-दिन रखवाली करता है। किसी और मछली को घोंसले के निकट आते देखकर वह उस पर ज़ोर से हमला करता है। यदि वह भाग नहीं जाती तो अपने काँटों से उसके शरीर को चीर डालता है। जब अंडों से बच्चे निकल आते हैं तो वह प्रसन्न होता है और सँभालकर घोंसले का ऊपरी हिस्सा खींचकर अलग कर देता है। शेष भाग में झूले की तरह नन्हे-नन्हे बच्चे उस समय तक पड़े रहते हैं जब तक कि उनमें तैरने की शक्ति नहीं आ जाती।

जावा की गोरामी नामक मछली जल के पौधों के पत्तों से बुनकर अंडाकार घोंसला बनाती है। यह घोंसला भी अकेली नर मछली ही ५-६ दिन में बुनती है और जब तक वह पूरा न हो जाय चैन नहीं लेती।

चिड़ियों की कला

बुने हुए घोंसले बनाने में निस्संदेह सबसे प्रवीण चिड़ियाँ ही हैं। नित्य ही घरों में हम चिड़ियों को अपने चारों ओर घास-फूस, तिनके, रुई, डोरे, ऊन आदि ले जाते देखते हैं। इन्हीं वस्तुओं को आपस में फँसाकर वे उचित जगह पर घोंसला बनाती हैं। घोंसला तैयार करते समय इस बात का ध्यान उन्हें रहता है कि मोटी और खुरखुरी चीज़ें बाहर की ओर लगायें तथा नर्म और गर्म वस्तुओं की तह भीतर की ओर रहे। सर्वोत्तम गृह वृक्षवासी पक्षियों के ही होते हैं। भारतीय बया पक्षियों में सबसे निपुण कारीगर गिना जाता है। भारतवासी बया की अपेक्षा उसके घोंसले से अधिक परिचित हैं, जो बबूल, ताड़, कपास तथा अन्य वक्षों की डालियों से बोतलों की तरह लटकते हुए गाँवों में प्रायः दिखलाई पड़ते हैं। यह गौरैया की-सी छोटी और चालाक चिड़िया अपने घोंसले अक्सर उन खेतों के क़रीब बनाती है जहाँ से उसे अनाज के दाने आसानी से खाने को मिल जायँ। पूर्वी लंका में कहीं-कहीं पर इनके सैकड़ों घोंसले एक ही जगह दृष्टिगोचर होते हैं। घोंसला शुरू करने के लिए चिड़ियाँ लम्बी घास के तिनके, धान के लम्बे पत्ते, ताड़ के चीरे हुए पत्ते अथवा नारियल की जटा लाकर किसी पतली डाल या पत्ते पर एक जगह से पटवा की तरह गुहकर लटका देती हैं; फिर और पत्ते या जटा उसमें लगा-लगाकर नीचे की ओर बढ़ा और फुला देती हैं। तदनंतर नीचे की ओर एक लम्बी सूराख़दार गर्दन बनाकर घोंसला ख़त्म कर देती हैं। यही अन्दर जाने का मार्ग होता है। घोंसले के भीतर फूले हुए हिस्से में खटोले के सदृश एक सीधा पर्दा बना रहता है। इस पर्दे के एक ओर आने-जानेवाला रास्ता रहता है। अंडे और बच्चे इसी भीतरी कोठरी या खटोले पर रहते हैं। हवा के झोंके से या घोंसला हिलने से अंडे और बच्चे इसी सूराख़ से गिर न जायँ, इसलिए वे सूराख़ की तरफ़ पर्दे के किनारे को छज्जे की तरह ऊँचा कर देती हैं। किसी ने सच ही कहा है, "बया का घोंसला और आदमी का घर बराबर है।" घर बनाने में नर और मादा दोनों ही परिश्रम करते हैं। अधबने घोंसले में एक चिड़िया भीतर रहती है और एक उसके बाहर। बाहरवाली चिड़िया तिनकों के छोर को भीतरवाली चिड़िया को और भीतरवाली बाहरवाली को पकड़ा-पकड़ाकर खींचकर कसती जाती हैं। बया और बन्दर के विषय में हमारे देश में बहुत-सी मनोरंजक किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं।



खेत के चूहे का घोंसला, जिसे वह घास की पत्तियों, परों, बालों या ऊनी चिथड़ों को आपस में गुहकर गेहूँ या जौ के पौधों पर बड़ी चतुराई से बनाता है। दे० पृ० १६८९ का मैटर।

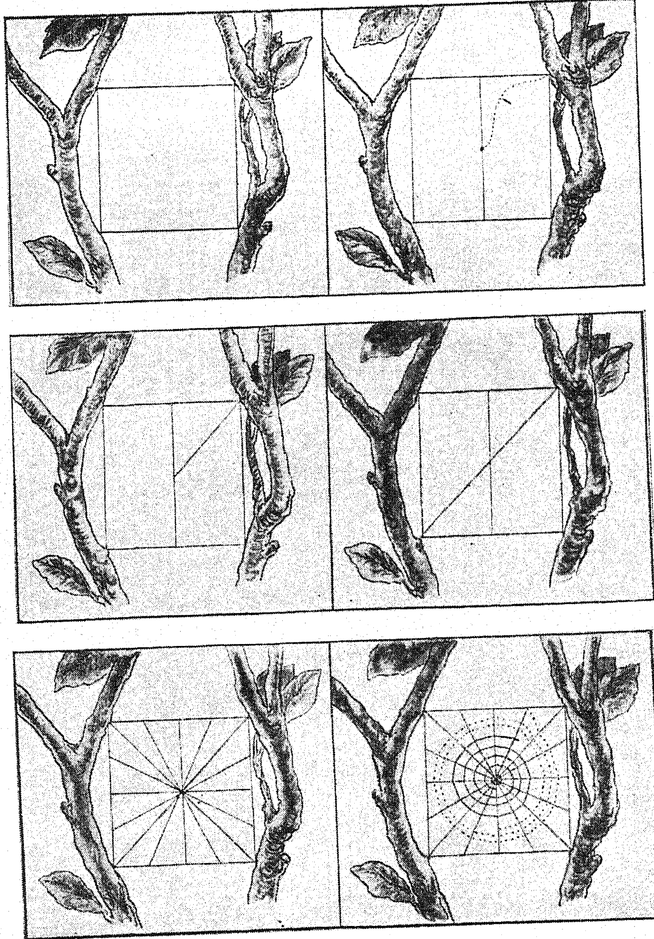
चिड़ियों के घोंसले तो बहुत तरह के होते हैं, लेकिन शायद सबसे विचित्र वे घोंसले हैं जो स्विफ़्ट नामक चिड़ियाँ बनाती हैं और जो खाये जाते हैं। ये प्याले-जैसे छिछले

घोंसले गुफाओं की दीवालों में, जहाँ चिड़ियाँ रहती हैं, चिपटे रहते हैं। वे क़रीब-क़रीब बिल्कुल चिड़िया के थूक के बने होते हैं, जो हवा से सूखकर कड़ा हो जाता है। चीन के शौक़ीन खानेवाले इन घोंसलों के शोरवे को बड़े स्वाद से खाते हैं और वहाँ इनकी बड़ी माँग होती है।

दक्षिणी अफ्रीका का टिट् पक्षी भेड़ों की ऊन या अन्य रेशेदार सामग्री से ऐसे बुने हुए तहदार घोंसले बनाता है, जिनमें पानी नहीं घुस पाता। बल्कि वे नमदे की तरह जमे हुए लगते हैं।

स्तनपोषियों के घोंसले

पक्षियों की विचित्र रचनाओं के सम्मुख स्तनपोषियों के गृह बिल्कुल मामूली-से जान पड़ते हैं। बहुतेरे मांसाहारी जीव घने जंगल या गुफाओं में ही अपने बच्चों की रक्षा करते हैं। कुछ छोटी जातियाँ—छछूँदर, चूहे, ख़रगोश इत्यादि—धरती में बिल बनाकर गुज़ारा करती हैं। ओरैंग, गौरिल्ला आदि ऊँचे वृक्षों पर तोड़ी हुई शाखाओं और पत्तों की मचान-सी बनाते हैं। चौपायों में असली घोंसला बनानेवाला वह खेत का चूहा है जो विलायत से लेकर जापान तक मिलता है। यह नन्हा जानवर गेहूँ और जौ के खेतों में उनकी पत्तियों से गुहकर चिड़ियों के घोंसले की तरह एक सुन्दर गोल घोंसला बनाता है। अक्सर यह घोंसला नाज के कई डंठलों से बँधा और सधा रहता है; लेकिन कभी-कभी वह टहनी से लटका रहता है और कभी-कभी किसी बड़े काँटे की नोक पर सधा रहता है। चूहे इस घोंसले में केवल गर्मियों में ही रहते हैं। मौसम ठंढा होने पर वे भूमि में खुदे हुए बिलों में घुस जाते हैं और शीतकाल समाप्त होने तक वहीं सोते-से पड़े रहते हैं। गिलबर्ट ह्वाइट ने लिखा है "मुझे ऐसा एक घोंसला अबकी शरद् ऋतु में मिला। वह गेहूँ के पत्तों को अत्यन्त सुन्दर रीति से गुहकर एक बिल्कुल गोल क्रिकेट की गेंद के बराबर बनाया गया था। उसका छिद्र ऐसी बुद्धिमानी से छिपाया हुआ था कि उसका जल्दी पता न चलता था। वह ऐसा ठस हुआ और मज़बूत बना था कि मेज़ पर लुढ़काने से भी न टूटता था। यद्यपि उसके अन्दर आठ नन्हीं अन्धी चुहियाँ थीं!"



ऊपर के चित्र में क्रमशः भिन्न-भिन्न छः तस्वीरों द्वारा मकड़ी के जाले के निर्माण की विधि प्रदर्शित है कि किस प्रकार दो टहनियों के बीच वह अपना तार घुमा-फिराकर एक विशेष आकृति का जाला बुन लेती है।

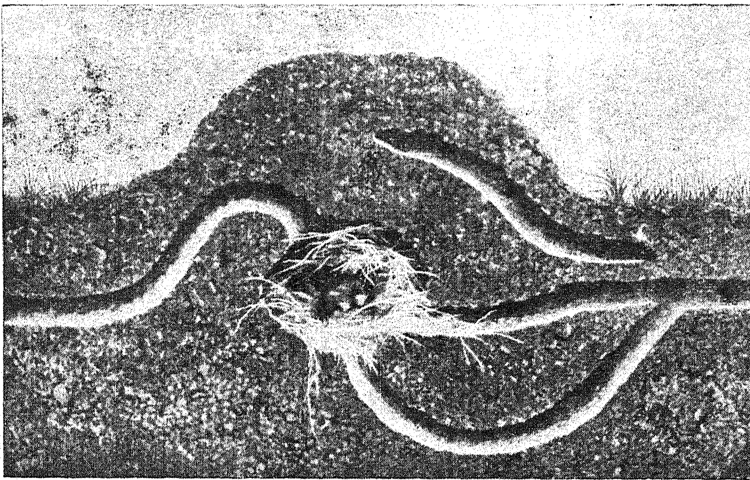
बिल और सुरंग बनाना

पशु-जीवन के उद्यमी जगत् के बहुतेरे निवासी हमारे बिना जाने और बिना देखे इस प्रकार काम करते रहते हैं कि साधारण लोगों को इस बात का कुछ भी अन्दाज़ नहीं होता कि हमारे चारों ओर कैसे-कैसे रहस्य भरे पड़े हैं। केवल प्रकृति के विद्यार्थी ही पर्दे के पीछे पहुँचकर छिप-छिपकर खान और सुरंगें बनानेवाली इन सेनाओं का भेद जान पाते हैं।

इन खोदनेवाले कारीगरों में से कुछ कड़े परिश्रम से अपना मनोरथ सिद्ध कर पाते हैं। दूसरे मन्दता और दृढ़ता का मार्ग स्वीकार करते हैं। कुछ केवल रात में ही काम करते

हैं और कुछ अन्धे होते हुए भी दूर तक सुन्दर सुरंगें खोद डालते हैं। बहुत-से प्रति वर्ष नया बिल या गृह बनाते हैं, कोई ज़मीन के भीतरवाले एक ही घर में वर्षों तक वास करते हैं तथा उन्हें आवश्यकतानुसार बढ़ाते और बदलते रहते हैं। सभी ग्राम-वासी जानते हैं कि लोमड़ी, ख़रगोश, चूहे इत्यादि खोदने में अति प्रवीण होते हैं, लेकिन धरती के भीतर अँधेरे में रहनेवालों में अपने काम में सबसे चतुर छछूँदर है। यह क़रीब-क़रीब दृष्टि-हीन होती है। इसके अगले पैर खुरपे-जैसे चौड़े, तेज़ नखवाले, नाक कड़ी और नोकीली, बाल मख़मली चिकने और सीधे रहते हैं जिनमें मिट्टी न चिपक सके। ये सभी अंग उसे अपने जीवन के उपयुक्त बनाते हैं।

छछूँदर अपने लिये धरती के भीतर एक क़िला बनाती है जो काफ़ी बड़ा होता है। उसका व्यास ३ फ़ीट या उससे भी अधिक होता है। पहले वह ज़मीन की सतह से कुछ ही नीचे एक गोल गड्ढा बनाती है और ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है तिरछी सुरंग द्वारा मिट्टी को ऊपर फेंकती जाती है। जब एक सुरंग से निकाली हुई मिट्टी का ढेर काफ़ी हो जाता है तो वह दूसरी ओर को सुरंग खोदती है। कभी-कभी पास-पास कई कोठरियाँ नीचे-ऊपर या इधर-उधर खोद डालती है जो एक दूसरे से सुरंगों द्वारा मिली रहती हैं। कोई सुरंग काफ़ी लम्बी और कोठरियों के बीच में घूमती-घामती ऊपर को आती हैं। हरएक कोठरी या क़िले से चारों ओर को बहुत-से रास्ते फैले रहते हैं। क़रीब-क़रीब प्रत्येक कोठरी की दीवालें बार-बार आने-जाने की रगड़ से बिल्कुल चिकनी हो जाती हैं और उनमें घास तथा पत्ते भरकर घोंसला तैयार किया जाता है। कोठरी या क़िले से एक भागनेवाली सुरंग रहती है। यह मार्ग घोंसले के नीचे से निकलकर ऊपर की ओर मुड़ता है और एक ऐसी सुरंग से क़िले के बाहर जा निकलता है जो इधर-उधर की अन्य राहों से नहीं मिला रहता। खटका होने पर छछूँदर इसी राह से भाग जाती है।



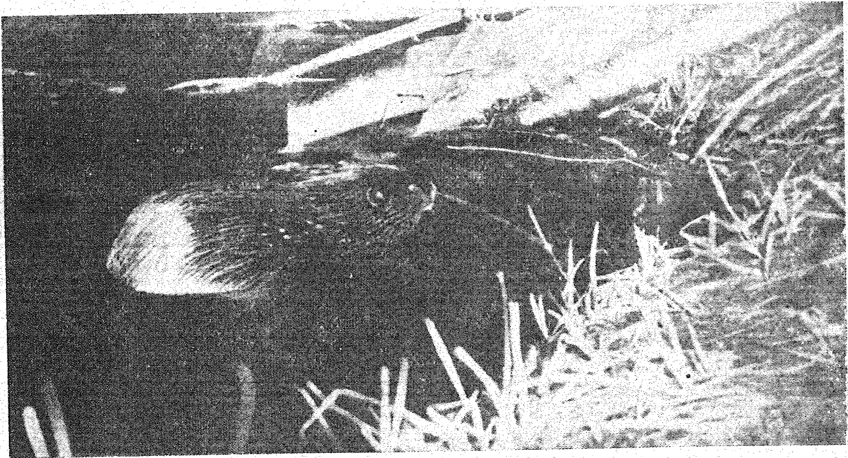
ज़मीन के भीतर खोदकर बनाए जानेवाले छछूँदर के अद्भुत निवासस्थान का दृश्य। चित्र में मुख्य गृह और उससे संबद्ध सुरंगें इस प्रकार ज़मीन काटकर दिखाई गई हैं जिससे उनकी भीतरी रचना का हमें ज्ञान हो सके। इस क़िले जैसे घर में छछूँदर बड़े मज़े से सुरक्षित रूप से अपने बच्चे पालती है और ज़रूरत पड़ने पर इनमें से किसी एक के रास्ते भाग निकलती है।

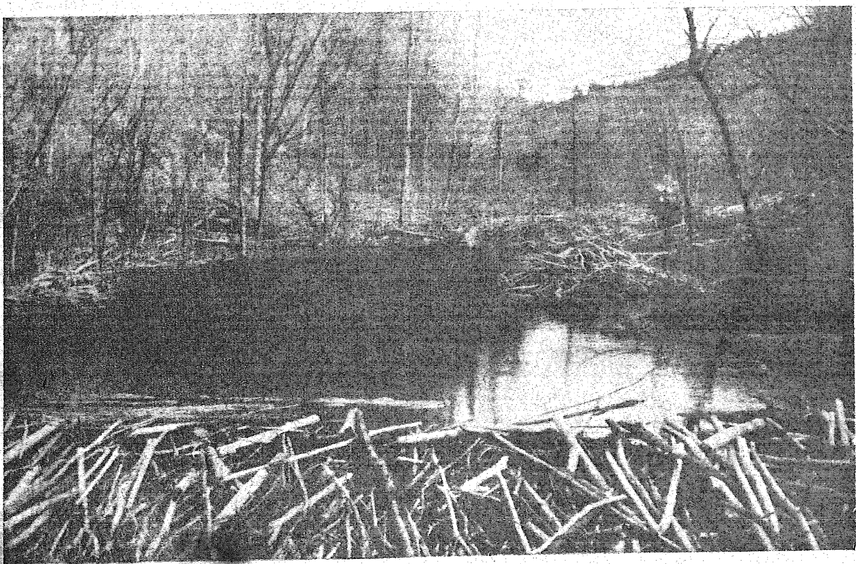
छछूँदर के ही समान सुरंग बनानेवाला एक प्राणी बिज्जू है। यह शर्मीला प्राणी दिन में बहुत ही कम बाहर आता है। इसका गृह धरती में ५-६ फ़ीट नीचे होता है। उससे कई सुरंगें इधर-उधर ३० फ़ीट दूर तक फैली रहती हैं। दो-एक सुरंगें कोठरी से सीधी ऊपर को आती हैं। इनका मुख्य कार्य कोठरी में हवा पहुँचाना होता है।

कई तरह की चिड़ियाँ भी ऐसी हैं जो अपने लिए खान, सुरंग या बिल बनाती हैं। नदी के ऊँचे कगारों में रहनेवाला उल्लू इन्हीं में सम्मिलित है।

मिट्टी के घर बनाना

कुछ जीवधारी मिट्टी का काम करने में बड़े कुशल हैं। इनमें राज, मज़दूर और कुम्हार सभी होते हैं। कई प्रकार की बरें और अन्य कीड़े-मकोड़े पुरानी दीवालों में अपने घरों की रचना करते हैं; परन्तु पतिंगों में सबसे चतुर राज लखेरी है जिसके बनाये हुए नलिकाकार गृहों से बहुत-से भारतीय परिचित हैं। मादा लखेरी राह की महीन धूल को इकट्ठा कर अपने थूक से सानती है और इस प्रकार बनाये हुए गारे की छोटी-छोटी गोलियाँ एक के ऊपर एक रखकर लम्बे या गोल गुम्बददार कई कोठरियोंवाले गृह बना लेती है जो सूखकर कड़े हो जाते हैं। एक जाति का चींटा गेंद के बराबर गोल मिट्टी का घोंसला बनाता है जो धूप

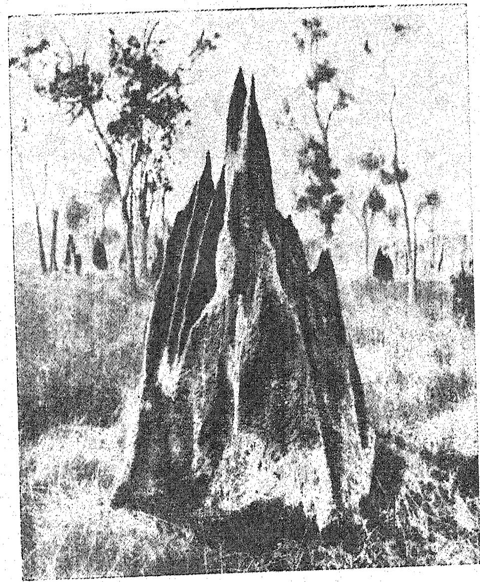


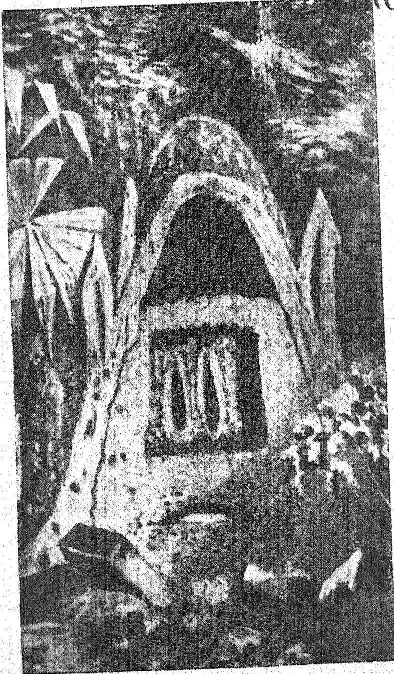


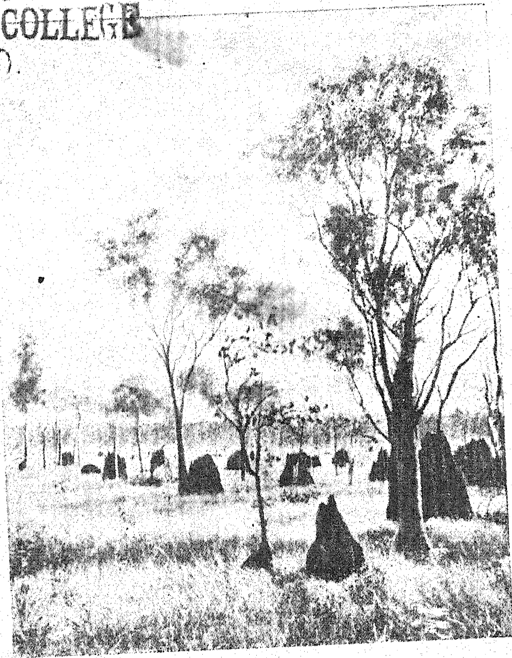


(ऊपर) जंगली बर्र का अद्भुत छत्ता। यह एक प्रकार की काग़ज़-जैसी वस्तु का बना होता है, जिसे स्वयं बर्र ही बनाती हैं। इसमें कई मंज़िलें और कोठरियाँ होती हैं। यह वायु और वर्षा से पूर्णतया सुरक्षित रहता और इसके भीतर का तापमान भी सदैव समान बना रहता है। चित्र में छत्ते का कुछ अंश काटकर भीतरी रचना भी दिखाई गई है। (बाईं ओर) बीवर और उसके द्वारा बनाया गया एक लट्ठों का बाँध। इस चतुर इंजीनियर का हाल पिछले अंक में दिया जा चुका है।





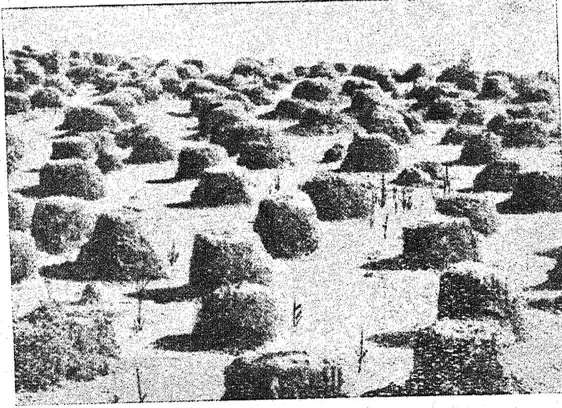




दीमक के अनोखे घर

इन जीवों की कई जातियाँ बड़े विचित्र और ऊँचे गृह बनाती हैं, जिन्हें दीमक की पहाड़ियाँ कहा गया है । इनमें से कोई-कोई २५ फ़ीट या इससे भी अधिक ऊँची होती हैं । इन घरों में छोटी-छोटी कोठरियों और रास्तों का जाल फैला रहता है । कैसे ये नन्हें जीव अपने से सैकड़ों गुने ऊँचे इन मिट्टी के घोसलों को बना पाते हैं, हमारी समझ में नहीं आता । पेरिस की प्रसिद्ध 'एफ़िल' मीनार उसे बनानेवाले कारीगरों के औसत क़द से १८७ गुना ऊँची है, लेकिन दीमक की पहाड़ी उनके कारीगरों से १००० गुना ऊँची तक विद्यमान हैं। चित्र में ऊपर की पंक्ति में ऑस्ट्रेलिया के मैदानों में पाए जानेवाली भीमकाय दीमक की बाँबियों के दो चित्र हैं । नीचे बाईं ओर एक अफ़्रीका की दीमक की बाँबी का काटकर दिखाया गया दृश्य और दाहिनी ओर मैदान में उनका एक समूह प्रदर्शित है ।

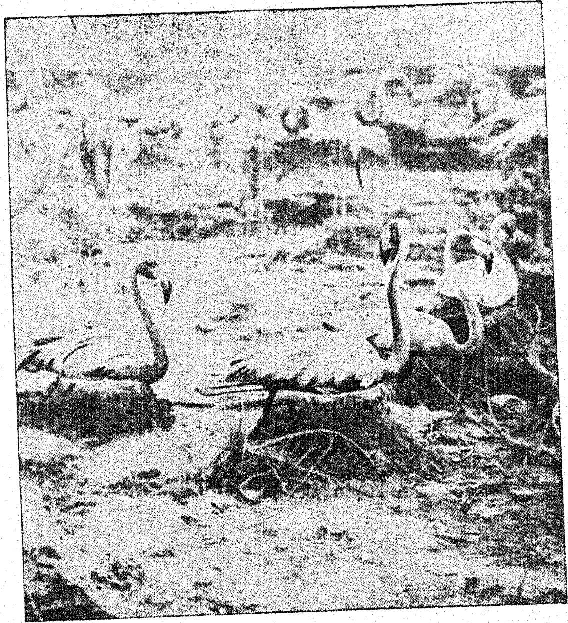
में सूखकर लाल और कड़ा हो जाता है। चिड़ियों में भी कई मिट्टी के घोंसले बनानेवाली हैं। इनमें सब से प्रसिद्ध दक्षिणी अमेरिका की ओवन-बर्ड है जो अंडे सेने के लिए बरोसी की शक्ल का घोंसला किसी खम्भे की चोटी



या वृक्ष की आड़ी डाल पर बनाती है। यह चतुर कारीगर बाल तथा रेशेदार जड़ों को एकत्र करके पोखरे या तालाब के किनारे कड़ी मिट्टी में सानकर गोलियाँ-सी बना लेती है और इन्हें अपने चुने स्थान पर ले जाकर और उन्हें एक पर एक रखकर गहरी, तंग मुँह की बरोसी या तन्दूर-सा घोंसला तैयार कर लेती है। इसके भीतर एक खड़ी और दूसरी आड़ी दीवाल रहती है। खड़ी दीवाल को यह चिड़िया इस तरह दर्वाज़े के सामने बनाती है कि हवा का झोंका सीधा घोंसले में न जा सके। आड़ी दीवाल के नीचेवाले कमरे में नर्म वनस्पतियों का फ़र्श बिछाकर मादा उसमें अंडे देती है।

घोंसला बनाने के लिए मिट्टी को काम में लानेवाली हमारे देश की चिड़ियों में सबसे प्रसिद्ध एक तो कच्छ और गुजरात की ओर झुंड में रहनेवाली चिड़िया फ़्लैमिङ्गो है (चित्र देखिये) और दूसरी धनेश है जिसकी मादा पेड़ का एक खोखला चुनकर उसमें लकड़ी के टुकड़े, मिट्टी और पर बिछाकर उसे अपने रहने और मातृ-धर्म पूर्ण करने के लिए तैयार करती है। जब वह अपनी इस लकड़ी की झोपड़ी में अंडे देने के लिए बैठ जाती है तो नर मिट्टी लाकर खोखले का मुँह बन्द कर देता है। वह उसमें केवल एक दरार छोड़ देता है और नित्य बन्दी मादा इसी में से चोंच निकालकर अपना भोजन नर से पाती है। एक स्वतन्त्र चिड़िया को इस प्रकार बन्दी रहने में कष्ट तो अवश्य ही होता होगा लेकिन उसको यह सन्तोष रहता है कि उसके बच्चे जब तक बड़े न हो जायँगे उसके भीतर भली भाँति सुरक्षित रहेंगे।

किन्तु राजगीरी के काम में सबसे निपुण और मनोरंजक वे नन्हे-नन्हे जीव हैं जिनको हम दीमक के नाम से जानते हैं। दीमकों से अधिक मनोहर कदाचित् सम्पूर्ण विश्व में कोई अन्य जीव नहीं। इनका विस्तृत हाल आपको फिर कभी बतलाएँगे। जब हम उनके विशाल नगरों का, जिनमें सहस्त्रों प्राणी घोर अन्धकार में बसे रहते हैं तथा जिनमें राजा, रानी, सेवक और सैनिक सभी होते हैं, पुस्तकों में हाल पढ़ते हैं तो हमें अत्यन्त आश्चर्य होता है। परन्तु वास्तव में इनके घोंसले या घर ऐसे ही विचित्र हैं और उनके विषय में हम जितना ही जानते हैं उतने ही वे और अजीब मालूम होते हैं। बाज़ क़िस्म की दीमकों के घर तो बिल्कुल धरती के भीतर ही होते हैं, ऊपर तो केवल



(ऊपर) हमारे ही देश में काठियावाड़ प्रान्त में कहीं-कहीं एक साथ ही हज़ारों की संख्या में पाये जानेवाले फ़्लैमिङ्गो नामक पक्षियों के अद्भुत घोंसलों का एक समूह। ये घोंसले दलदली ज़मीन में मिट्टी को ऊपर उठाकर रचे जाते हैं। (नीचे) मादा फ़्लैमिङ्गो इसी प्रकार अपने इन ढूहनुमा मिट्टी के घोंसलों पर बैठकर अपने अंडों को सेती हैं, जैसा कि चित्र में प्रदर्शित है।

उनका थोड़ा-सा ही भाग—पपड़ी-सा—नज़र आता है जैसा कि हम आम तौर से खेतों और शहरों की दीमकों में पाते हैं; लेकिन गर्म देश में रहनेवाले इन जीवों की कई जातियाँ बड़े विचित्र और ऊँचे गृह बनाती हैं, जिन्हें दीमक की पहाड़ियाँ कहा गया है। इनमें से कोई-कोई २५ फ़ीट या इससे भी अधिक ऊँची होती हैं। एक पहाड़ी में एक ही ख़ानदान बसता है, लेकिन उसमें असंख्य व्यक्ति होते हैं। इन घरों में छोटी-छोटी कोठरियों और रास्तों का जाल फैला रहता है। कैसे यह नन्हें जीव अपने से सैकड़ों गुने ऊँचे इन मिट्टी के घोंसलों को बना पाते हैं, हमारी समझ में नहीं आता। पेरिस की प्रसिद्ध 'एफ़्फ़ेल' मीनार उसे बनानेवाले कारीगरों के औसत क़द से १८७ गुना ऊँची है, लेकिन दीमक की पहाड़ी उनके कारीगरों से १००० गुना ऊँची तक विद्यमान हैं। इसी पैमाने से यदि मनुष्य बनाता तो 'एफ़्फ़ेल' मीनार ५००० फ़ीट ऊँची होती। यह इतने बड़े दीमक के घर बिल्कुल मिट्टी के ही बने होते हैं, लेकिन वे कड़े इतने होते हैं कि इन्हें फावड़े से काटना भी कठिन हो जाता है। कभी-कभी लकड़ी भी उनकी रचना में शामिल रहती है। दीमक मिट्टी को अपने मुँह में लेकर चबाती हैं और उनकी लार से मिलकर वह पत्थर-सी कड़ी हो जाती है। लकड़ी भी चबाने पर चूर हो जाती है और जुड़ जाती है। कभी-कभी वे मिट्टी को खाकर अन्न-प्रणाली से बाहर निकाल देती हैं। स्थानाभाववश संसार के इन निराले आश्चर्यों के दो-एक नमूने ही इस लेख में दिये जा रहे हैं।

काग़ज़ के घर बनाना

बरों के छत्ते तो आपने देखे ही हैं किन्तु कदाचित् आप यह न जानते होंगे कि वे किस वस्तु के और कैसे बनते हैं। छतों या वृक्षों से लटकते हुए जो छत्ते दिखलाई पड़ते हैं वे एक प्रकार के काग़ज़ के बनते हैं। क्या यह आश्चर्यजनक नहीं कि इस प्रकार के घोंसले बनानेवाली बरों ने मनुष्य से बहुत पहले अपने घरों के लिए काग़ज़ बनाने की विद्या सीख ली थी! निस्संदेह वे ही दुनिया के सबसे पहले काग़ज़ बनानेवाले हैं। वे अपने मज़बूत जबड़ों से लकड़ी के रेशों और बुरादा-जैसे छोटे-छोटे टुकड़ों को काट तथा चबाकर लार में सान नर्म गूदा बना लेती हैं। इसी गूदे से वे घोंसले में एक के बाद एक कोठरियाँ बनाती चली जाती हैं। इनका बनाया हुआ काग़ज़ दफ़्ती या पट्ठे की तरह चीमड़ और मज़बूत होता है और ज्यों-ज्यों घोंसला बढ़ाने की ज़रूरत होती है, काग़ज़ वहीं का वहीं बनाया जाता है। मादा बर्रं अकेली ही छत्ता बनाना शुरू करती है और जब तक कि उसके दिये हुए अंडों से उसके कारीगर शिशु नहीं निकलते सारा काम वही करती है। पेड़ पर रहनेवाली भिड़ या बर्रं के लटकते हुए घोंसले ही सर्वप्रसिद्ध हैं। इसका एक चित्र यहाँ दिया गया है। बीच में वह एक डाल से लटका रहता है। जब पहली मंज़िल बन जाती है तो बीच का सहारा देनेवाला अंश नीचे को बढ़ाकर उसके इर्द-गिर्द कोठरियों की एक और पंक्ति बनाई जाती है। इसी तरह एक दूसरे के बाद कई मंज़िलें—साथ-साथ—एक के ऊपर एक बनती चली जाती हैं। ज्यों-ज्यों छत्ते की जनसंख्या बढ़ती जाती है, चारों तरफ़ और नई कोठरियाँ बनती जाती हैं और कभी-कभी ये घोंसले बढ़कर कई फ़ीट लम्बे-चौड़े हो जाते हैं। छत्तों को ऊपर से ढके हुए एक दर्जन या उससे भी ज़्यादा छाते-जैसे एक के ऊपर एक काग़ज़ के खोल मढ़े रहते हैं, जो छत्ते के अन्दर पानी और हवा नहीं जाने देते। नीचे की ओर जाने का रास्ता बना रहता है।

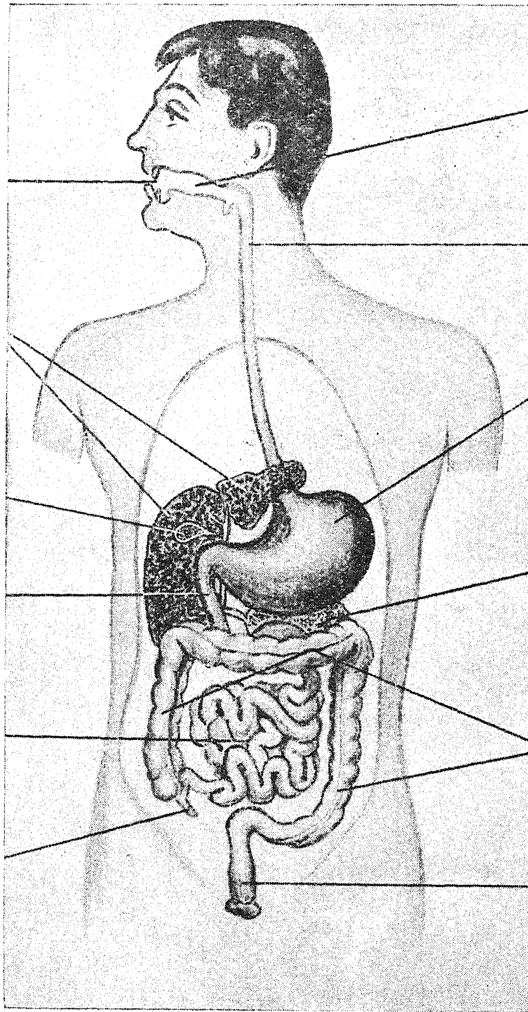
इस प्रकार के घोंसले बनानेवाली बरें बड़ी चतुराई और समझदारी से काम लेती हैं, लेकिन इनकी कोठरियाँ उतनी एक-सी नहीं होतीं, जितनी शहद की मक्खी की मोम की बनी हुई षटकोण कोठरियाँ।

ऊपर बतलाई हुई कारीगरियों के अतिरिक्त जन्तु-जगत् की और भी कुछ बड़ी मनोरंजक कारीगरियाँ हैं, जैसे आम के पेड़ों पर रहनेवाले लाल चींटे या माटा का घर, जिसकी सबसे अनोखी बात यह है कि वह आम के कई पत्तों को पास खींचकर अपने इल्लों से डोरा पुरवाकर उन्हें एक दूसरे में जोड़ लेता है। बुनने या सीने का इससे भी अच्छा उदाहरण हम फुलचुहकी नामक चिड़िया के घोंसले में पाते हैं। यह सीनेवाली या दर्ज़ी चिड़िया एक ही बड़े पत्ते के दोनों किनारों को मोड़कर या पास-पास के दो पत्तों के किनारों में चोंच से सूराख़ कर इधर-उधर से ढूँढ़े हुए तिनके, लम्बी घास या डोरे अथवा मकड़ी के कड़े जाले को उनमें पिरोकर ऐसा सी लेती है मानों मनुष्य ने सिया हो। यदि इन्हें जन्तु-जगत् का दर्ज़ी या जुलाहा कहा जाय तो क्या अनुचित है?

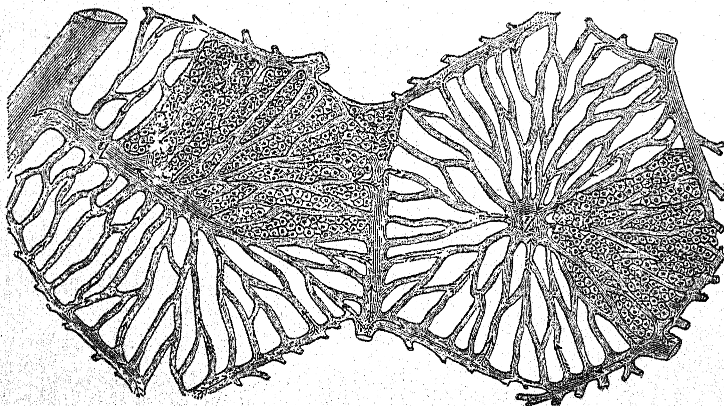
अन्त में हम आपका ध्यान उन सबसे बढ़े-चढ़े बीवर जैसे इंजीनियरों की ओर आकर्षित करना चाहते हैं जिनके विषय में हम पिछले लेखों में आपको काफ़ी हाल बतला चुके हैं।

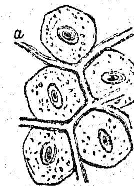


मनुष्य की कहानी

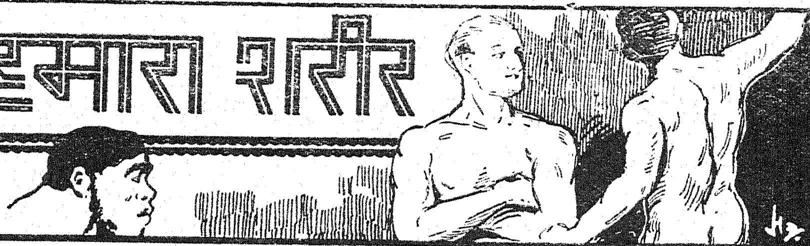


अन्न-प्रणाली एक लगातार नली है जो मुँह से शुरू होकर शरीर के दूसरे सिरे तक चली जाती है। एक जगह वह फूलकर आमाशय बन जाती है और बाद में मुड़ी-मुड़ाई २७ फ़ीट लम्बी पेचदार आंत हो जाती है। इस प्रमुख नली से कई ऐसे आवश्यक अंग निकले रहते हैं जिनका पाचन-क्रिया में ज़रूरी भाग रहता है, उदाहरणार्थ—यकृत और क्लोम।





(बाईं ओर) यकृत से काटा गया महीन पर्त सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में ऐसा ही दिखलाई पड़ता है। वह छोटे-छोटे ग्रन्थि-कोषों से भरा रहता है।



पाचन-संस्थान तथा अन्न-प्रणाली

शरीर-रूपी कल के ढाँचे या ठठरी, पेशियाँ, खाल और उसके पाँचों द्वार अथवा ज्ञानेन्द्रियों से परिचित हो जाने के पश्चात्, आइए, अब हम आपको इस कल के भीतर की सैर कराएँ। शारीरिक कार्य करने में उसके तत्त्व क्षय होते रहते हैं। यदि हम इस कमी को पूरा न करते रहें तो धीरे-धीरे शरीर क्षीण होता जायगा और बहुत दिनों न चल सकेगा। इस कमी की पूर्ति भोजन द्वारा ही हो सकती है। शरीर की गर्मी भी उसी से ही स्थिर रहती है। शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों के बनने तथा उनकी वृद्धि के लिए जिन तत्त्वों की आवश्यकता होती है उनकी भी पूर्त्ति भोजन ही करता है। किन्तु जिस रूप में हम भोजन प्राप्त करते हैं उसी रूप में तन्तु और कोष उनको ग्रहण नहीं कर सकते। जो ठोस या तरल पदार्थ हम खाते हैं वह बहुत-सी क्रियाओं के बाद रक्त बनकर शरीर में घूम-घूमकर अंग-प्रत्यंग, प्रत्येक तन्तु और उसके कोषों को उनकी ख़ुराक देता है। इस लेख में आपको उन्हीं अंगों का हाल हम बतायेंगे, जिनके द्वारा पेट में पहुँचाया गया भोजन उस गर्म, बलदायक और सुखदायी रक्त में रूपान्तरित हो जाता है, जिसमें सारे भीतरी अंग परिप्लावित रहते हैं।

हम खाना क्यों खाते हैं?

यह तो सर्वविदित है कि हमको खाने की आवश्यकता केवल प्रतिदिन ही नहीं होती वरन् दिन में कई बार होती है। खाने की इच्छा ऐसी है कि यदि उसको पूर्ण न किया जाय तो वह और भी तेज़ होती जाती है और अन्त में दुःखदायी भी हो जाती है। बहुत थक जाने पर हम नींद के वश में हो जाते हैं और काम करते-करते ही सो जाते हैं अर्थात् नींद की कमी को शरीर के कोष ही पूरा कर लेते हैं। किन्तु भूख में ऐसा नहीं होता। **भूख की तृप्ति तो शरीर में बाहर से कुछ सामग्री पहुँचाये बिना हो ही नहीं सकती।** जीवनारम्भ में शिशु तौल में केवल ३—३। सेर ही होता है किन्तु पूर्ण रूप से बढ़ जाने पर उसके शरीर का भार १।—१।। या २ मन अथवा उससे भी अधिक हो जाता है। वृद्धि के इस काल में हड्डी, मांस-पेशियाँ, रक्त आदि सभी बढ़ते हैं। शरीर में बल भी अधिक आ जाता है। यह सब कैसे होता है? वह सामग्री ही इस कार्य को करती है जिसे हम खाने-पीने के रूप में ग्रहण करते हैं। भोजन से शरीर को बढ़ने के लिए आवश्यक पदार्थ मिलते हैं। भोजन ही शारीरिक अंगों की थकान और घिसन को पूरा करता है। भोजन ही शरीर को गर्म रखता है और उसको कार्य करने की शक्ति तथा फ़ुर्ती देता है। अतः स्वास्थ्य को स्थिर रखने के लिए हमको ऐसा भोजन करना चाहिए, जिससे शरीर को ये तीनों ही बातें मिलती रहें। शरीर के सभी तन्तु जटिल रासायनिक मिश्रणों—प्रोटीन—से बनते हैं। मांसवर्द्धक पदार्थ या प्रोटीन दूध, बिना चर्बी के गोश्त, दाल, अंडे इत्यादि में मिलता है। यही मांसवर्द्धक पदार्थ मानो शरीर का ईंट और गारा है। हड्डियाँ और दाँत विशेषकर चूना खटिकम् (calcium) और स्फुर जैसे खनिज लवणों से ही बनते हैं। शरीर रूपी मकान की ये मानों गार्डर और कड़ियाँ हैं। रक्त के लाल कणों को बनाने के लिए लोहे की आवश्यकता होती है। ये सब खनिज लवण मुख्य रूप में शाक, भाजी तथा फलों से ही प्राप्त होते हैं। चूना दूध में भी मिलता है। यदि भोजन में इन लवणों का अभाव हो तो दाँत और हड्डियाँ न बन पायें तथा उनमें कमज़ोरी आने लगे; रक्त भी इन लवणों की सहायता के बिना अपना कार्य सुचारु रूप से न कर सके। शरीर रूपी कल को इन वस्तुओं के अतिरिक्त ईंधन की भी आवश्यकता होती है जो शरीर में उपस्थित रहे और ज़रूरत आ पड़ने पर जलकर उसे शक्ति दे। इस प्रकार के पदार्थ शरीर के अंगों को बनाने

में कोई भाग नहीं लेते वरन् कोषों में जमा रहते हैं और समय पर काम आते हैं। गुड़, चीनी आदि श्वेत पदार्थ के उदाहरण हैं। ये गन्ना, चुकन्दर, खजूर, मुनक्का, अंजीर आदि फल, गेहूँ, चावल, जौ आदि अनाज और घी, दूध, तेल, चरबी जैसी चिकनी चीज़ों से प्राप्त होते हैं। ये सब श्वेत पदार्थ मोटर के पेट्रोल के समान हैं, जो उसमें भरा तो रहता है लेकिन उसकी मशीन का कोई भाग नहीं कहा जा सकता।

मुख्य खाद्य पदार्थ

शरीर को स्वस्थ और उपयुक्त अवस्था में बनाए रखने के लिए प्रोटीन, श्वेतसार, चिकनाई तथा खनिज लवण के सिवाय एक और प्रकार के खाद्य-पदार्थों की भी आवश्यकता होती है। इन वस्तुओं को 'विटामिन' (Vitamin) या खाद्योज कहते हैं। ये प्रायः ताज़े फल, शाक-भाजी और दूध में पाये जाते हैं। इनका कार्य-भाग अभी तक भली भाँति नहीं समझा गया है। उनको यदि शरीर के सिपाही कहें तो अनुचित न होगा। इनका वंश बड़ा है—कम-से-कम दस का तो पता लग चुका है। प्रत्येक किसी मुख्य कार्य के लिए नियत है। उदाहरणार्थ, उनमें से एक—खाद्योज 'डी'—का यह काम है कि वह हड्डियों पर दृष्टि रक्खे और देखे कि रक्त द्वारा जो चूना बढ़ती हुई हड्डियों में पहुँचता है, वह ठीक समय और उचित रीति से उन पर जमता जा रहा है या नहीं। अच्छी तन्दुरुस्ती के लिए हमारे भोजन में इन सब प्रकार की सामग्रियों का उचित मात्रा में मौजूद रहना आवश्यक है। इस विषय को विस्तारपूर्वक हम कहीं और लिखेंगे। यहाँ तो हम केवल यह बतला रहे हैं कि जो खाना हम खाते हैं वह कैसे और किन अंगों की सहायता से पचकर शरीर का अंग बन जाता है। यह कोई साधारण बात नहीं है। हमारा अधिकतर खाना ठोस होता है। शोरवे (रसा), दूध और संतरे के रस जैसे तरल पदार्थों में भी सूक्ष्म कणों के रूप में कुछ ठोस पदार्थ रहता है। ठोस पदार्थ सारे शरीर में फैले हुए उन छोटे-छोटे कोषों के लिए बिलकुल बेकार होते हैं, जिनके जीवन के लिए हम भोजन करते हैं। भोजन के ताक़त देनेवाले सारे अणु—जिनका कोष प्रयोग कर सकते हैं—उन तक घोल या तरल पदार्थों में महीन-महीन मिली हुई दशा में ही पहुँचने चाहिएँ। इसलिए खाई हुई चीज़ों का घोल में बदल जाना अत्यन्त आवश्यक बात है। हम रोटी, दाल, चावल, गोश्त, मछली, फल आदि अनेक रूप के संयोजित भोजन करते हैं, जिनमें से कुछ बहुत कड़े भी होते हैं। उनको तरल रूप प्रदान करने और पचाने के लिए हमारे भीतरी पेचीदा अंगों को बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। हमारे लिए यह सम्भव नहीं है कि हम खाने के लिए बैठें और आवश्यकतानुसार थोड़ी-सी तन्तु बनानेवाली चीज़ें, शक्ति-दायक ईंधन, हड्डी बनानेवाले खनिज पदार्थ, जल इत्यादि तथा अन्य छोटी-छोटी सहायक वस्तुएँ इस रूप में पा लें कि वे शरीर में जाकर आसानी से शरीर का अंग बन जायँ।

शरीर आहार के प्रयोग में मानव-कृत सभी कलों से आश्चर्यजनक है। वह भोजन से ईंधन का काम लेता है और उसी के जलने से वह गर्मी प्राप्त करता है, जो उसको चलता रखने के लिए आवश्यक होती है। शारीरिक मशीन के चलने से उसके पुर्ज़ों में जो रगड़ और घिसन आ जाती है उसको भी भोजन ही ठीक करता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जो कोष और तन्तु शरीर के काम में सदा नष्ट होते रहते हैं वे एक तरफ़ खाने से बनते जाते हैं और दूसरी ओर अपना काम भी करते रहते हैं। तीनों प्रकार के मुख्य खाद्य पदार्थ—मांसवर्द्धक, श्वेत सार तथा चिकनाई—जिस रूप में खाये जाते हैं उसी रूप में शरीर के काम नहीं आते। इसलिए पाचन अंगों को उन्हें तोड़कर ऐसी साधारण अवस्था में लाना पड़ता है कि उनको रक्त सोख सके और भिन्न-भिन्न भागों में पहुँचकर वहाँ के तन्तु-कोषों द्वारा वे फिर ऐसी वस्तुओं में बदल जायँ जिनकी वहाँ आवश्यकता है, जैसे कहीं खाल, कहीं मांस, कहीं हड्डी और कहीं चर्बी में। केवल पानी और खनिज पदार्थ ही ऐसी चीज़ें हैं, जिनके अणु साधारण अवस्था में होते हैं। इसलिए उनकी तोड़-फोड़ करने की ज़रूरत नहीं होती। उदाहरण के लिए प्रोटीनों को ही लीजिए। भोजन-सामग्री के प्रोटीन मांस के प्रोटीनों से बिल्कुल ही पृथक् होते हैं। गोभी के पत्तों में पाए जानेवाले प्रोटीन के लिए यह मुमकिन नहीं कि वह मांस-पेशियों के काम में कोई भाग ले सके, क्योंकि उसके अमिनोअम्ल के अणु और तरह से सजे रहते हैं। बिल्कुल उपयुक्त प्रोटीन मनुष्य द्वारा भक्षण करने से ही प्राप्त हो सकता है; किन्तु तब भी किसी तरह वह सीधा ख़ून में नहीं पहुँच सकता। उसको फिर तोड़ना और बनाना ही पड़ेगा। इसलिए भाँति-भाँति के भोज्य प्रोटीनों को मांस-प्रोटीनों में परिवर्त्तित करना आवश्यक है। इसकी रीति निम्न प्रकार है। सब तरह के प्रोटीनों को, जिन्हें हम खाते हैं, पेट में तोड़कर हम उन्हीं अमिनोअम्लों में परिणत कर लेते हैं जिनसे कि वे बने हुए रहते हैं। इन अम्लों को हमारा ख़ून चूस लेता है और इस तरह उनको तन्तुओं में बाँट देता है। तब कोष इन अमिनोअम्ल को लेकर

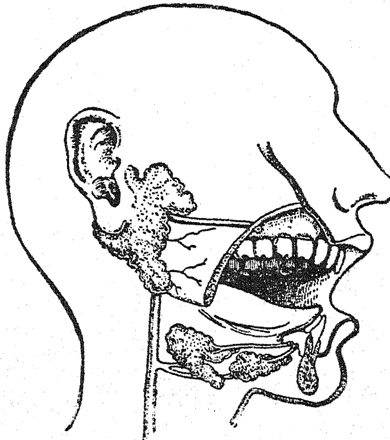
अपनी ज़रूरत के प्रोटीनों को बना लेते हैं। यह काम ऐसा ही है जैसे कि हम ठेकेदार से कुछ छोटे-छोटे मकान बनाने को कहें और उसको ईंट, गारा, सीमेन्ट, लोहा, या लकड़ी के बजाय एक बनी-बनाई विशाल इमारत दे दें जिसे तोड़कर वह ईंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी आदि अलग-अलग करे और फिर लोहे और लकड़ी को काट-छाँटकर नये मकानों के योग्य बनाए।

कर्बोदेत और चिकनाईवाले खाद्य पदार्थ के साथ भी बिल्कुल ऐसा ही होता है। सबसे सीधा-सादा और भली भाँति जाना हुआ कर्बोदेत ग्लूकोज़ है जो अंगूर और बहुत-से अन्य फलों से बनता है। रक्त में इसी रूप का कर्बोदेत मिला रहता है। मिश्री, शक्कर, आलू, या गेहूँ, तथा चावल के निशास्ते में मिलनेवाले शेष सब कर्बोदेतों की बनावट अधिक जटिल होती है। असली भीतरी अंगों में पहुँचने के पूर्व ही उनको ग्लूकोज़ में बदलना पड़ता है। इसी भाँति चिकनाइयों के भी अणु टूटकर मधुरिन (ग्लिसरीन) और मज्जिकाम्ल के साधारण खंडों में परिणत हो जाते हैं।

इसी प्रकार सभी खाया हुआ भोजन अति छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाने और चबा-चबाकर भली भाँति पिस जाने पर कई अन्य क्रियाओं के उपरान्त इस योग्य होता है कि उसका सार खिंचकर रक्त में पहुँच जाय और रक्त-संचार द्वारा क्रमशः समस्त शरीर में फैल जाय। इस सम्पूर्ण क्रिया को ही **पाचन-क्रिया** कहते हैं। जो अंग इसका प्रबन्ध करते हैं वे एक लम्बी नली के रूप में मुँह से शुरू होकर पाख़ाने के मार्ग तक—शरीर के एक छोर से दूसरे छोर तक—फैले हुए हैं। यह नली **अन्न-मार्ग, भोजन-प्रणाली या भोजन की नली** कहलाती है। आरंभ में इसकी लम्बाई १० इंच तथा चौड़ाई १ इंच होती है। गर्दन और सीने में होती हुई यह आमाशय तक पहुँचती है। यही प्रणाली और उसमें खुलनेवाले अवयव हमारी आहार-ग्रहण संबंधी सारी क्रिया से सरोकार रखते हैं। भोजन को पचाना, पचे हुए भोजन से रस को अलग निकालना और बचे हुए बेकार अंश को शरीर के बाहर फेंक देना इन्हीं अवयवों का कर्त्तव्य है। ऐसा नहीं है कि भोजन पचाने का अंग कोई और है और विकार निकालने का कोई दूसरा। वास्तव में, यह सारा यंत्र एक ही है। आइए, पहले इस अन्न-मार्ग और उससे लगे-लिपटे कल-पुर्ज़ों का हाल बताएँ। इसके बाद पाचन रीति का वर्णन करेंगे।

पाचन-सम्बन्धी कल और पुर्ज़े—पाचन-संस्थान

मुँह—भोजन की नली मुँह से ही शुरू होती है और मुँह में पहुँचते ही भोजन पर पाचन-क्रिया आरम्भ हो जाती है। लेकिन जो सामग्रियाँ हम पकाकर खाते हैं उनकी पाचन-क्रिया मुँह से बाहर ही शुरू हो जाती है। पकाने से मांस और काष्ठोज (वनस्पतियों की कोष-भित्तियों को बनानेवाला पदार्थ) नर्म हो जाते हैं। सब माँड़-युक्त (starchy) पदार्थों में काष्ठोज की झिल्लियों में मढ़े हुए नन्हे-नन्हे दाने होते हैं, जिन पर पाचक रसों का बहुत ही कम असर होता है। पकाने से माँड के दाने फूल जाते हैं और उनके ऊपर की झिल्ली फट जाती है। तब उन्हें खाने पर पाचक रस उनको प्रभावित कर पाते हैं। इससे भोजन को पकाने की आवश्यकता स्पष्ट है।



लार बनानेवाली ग्रन्थियाँ

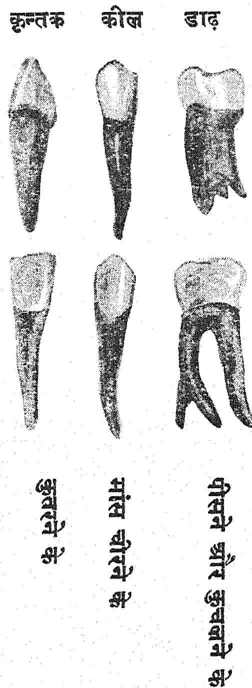
चित्र में कान, जबड़े और जीभ के समीप ये ग्रंथियाँ दिखाई गई हैं। प्रत्येक गुत्थी शाखामय खोखली नलिकाओं से बनती है; और हर एक गुत्थी से लार एक मुख्य नली द्वारा मुँह में पहुँचती है। जब हम दाँतों से खाना चबाते हैं और जीभ से चलाते हैं तो इन ऊपर बनी हुई ग्रन्थियों से लार निकलने लगती है। स्वादिष्ट भोजनों को देखने, सूँघने और उनका विचार करने से ही लार चूने लगती है।

मुँह में खाद्य पदार्थ पहुँचते ही हम उसको चबाने लगते हैं। हम दाँतों से कुचलकर उसके छोटे-छोटे टुकड़े कर डालते हैं। टुकड़े थूक से मिलकर अच्छी तरह पिस जाते हैं और उनका एक रेशेदार गूदा-सा हो जाता है, जो हज़्म होने के योग्य हो जाता है। लेई के समान चिकना हो जाने से हम उसको सहज में निगल जाते हैं। जब कभी हम जल्दी में या ग़लती से बिना ठीक से चबाये कौर लीलने लगते हैं तभी गले में वह अटकने लगता है और गले में एक फन्दा-सा पड़ने लगता है। भोजन को पीसने में जीभ भी मदद करती है। वह छोटे-छोटे टुकड़ों को बार-बार डाढ़ों के नीचे ढकेलती रहती है।

मुँह के चलाने से जो थूक या लार उसमें आती है वह पानी जैसी होती है और मुँह के अन्दर की ६ ख़ास गिल्टियों से निकलती है (दे० इसी पृष्ठ का चित्र)। इनमें से तीन-तीन

दोनों तरफ़ होती हैं। इन लार-ग्रन्थियों में से एक कान की जड़ के नीचे, दूसरी नीचे के जबड़े के पिछले भाग के नीचे और तीसरी आगे की ओर ज़बान के नीचे पाई जाती है। इन गिल्टियों से निकलनेवाली लार पतली-पतली नलिकाओं के रास्ते से मुँह में आती है। दिन भर में आध सेर से लेकर सेर भर तक लार बनती है। जबड़ों की गति और मुँह के भीतर खानेवाली वस्तुओं की रगड़ से ही नहीं बल्कि उनके स्वाद से भी लार-ग्रन्थियाँ उत्तेजित हो जाती हैं और उनसे लार बनकर मुँह में आने लगती है। खाना जितना ही अधिक स्वादिष्ट होता है उतनी ही अधिक लार मुँह में आने लगती है। यहाँ तक कि अच्छे-अच्छे भोजनों की महज़ महक ही पहुँचने पर हमारे मुँह में पानी भर आता है। भोजन जितनी अच्छी तरह चबाया जायगा उतनी ही अधिक लार उसमें मिलती जायगी। चबाते समय भोजन पर श्लेष्म लग जाता है और उसमें झाग उठ आते हैं, तभी वह निगला जा सकता है। अच्छी तरह चबाया हुआ चिकना कौर ६ सैकन्ड में ही सरककर मुँह से मैदे की थैली में जा पहुँचता है, लेकिन कुनैन की टिक्की जैसी सूखी कड़ी चीज़ को मैदे में पहुँचने में कई मिनट लग जाते हैं।

निगलने के लिए भोजन का लोथड़ा ज़बान से पीछे को ढकिल जाता और अन्न-प्रणाली में पहुँच जाता है। वहाँ से गले की मांस-पेशियों के लगातार संकोच से वह इस लम्बी यात्रा को पार करता हुआ आमाशय में जा पहुँचता है। यदि आप किसी घोड़े को बाल्टी से पानी पीते समय देखें तो ज्यों-ज्यों वह पानी को ऊपर खींचता जायगा उसके गले की खाल पर पेशियों के संकोच की लहरें आपको एक के बाद दूसरी बिलकुल साफ़ नज़र आती जायँगी।



तीन प्रकार के दाँतों का सामने और बग़ल से लिया गया चित्र

कृन्तक दाँत का किनारा छेनी की तरह तेज़ और कटीला होता है। कील का किनारा खूँटी की तरह नोकीला और फाड़नेवाला होता है। डाढ़ के शिखर पर कुचलने के लिये तीन स्कन्ध या उभार होते हैं।

भोजन नाक और हवा की नली में क्यों नहीं जाता?

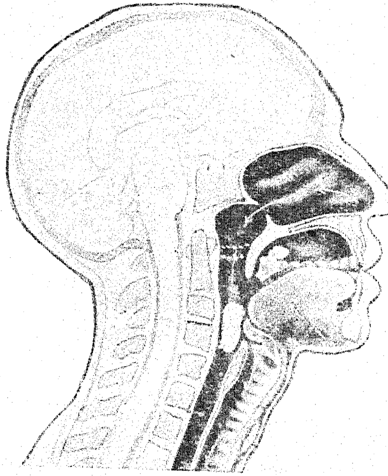
यह तो आप जानते ही हैं कि नाक में से मुँह के लिए एक रास्ता है, जो तालू में खुलता है। इस रास्ते के सिरे पर मांस का एक छोटा-सा नर्म टुकड़ा—जो कौआ कहलाता है—लटकता रहता है। यह कौआ साँस लेते समय तो लटकता रहता है, जिससे यह रास्ता खुला ही रहता है, किन्तु खाते समय भोजन से यह कौआ पीछे को ढकिल जाता है और नाक की नली को बन्द कर देता है, जिससे खाना नाक की नली में नहीं जा पाता। कभी-कभी 'टौंसिल' या 'डिप्थीरिया' की बीमारी में यह कौआ बेकार हो जाता है और भोजन—विशेषकर तरल पदार्थ—नाक से बाहर टपकने लगता है। जीभ की जड़ के नीचे हवा की नली और भोजन की नली दोनों ही हैं। खाई हुई चीज़ को भोजन की नली में पहुँचने के लिए हवा की नली के ऊपर होकर जाना पड़ता है। फिर भोजन हवा की नली में क्यों नहीं गिर जाता? बात यह है कि हवा की नली पर एक ढकना-सा लगा रहता है जो **हवा की नली का ढकना** कहलाता है। साँस लेते समय यह ढकना हवा की नली पर नहीं रहता, लेकिन खाते समय, जब भोजन मुँह से गले में जाने लगता है, यह ढकना नली के ऊपर आकर उसको बन्द कर देता है। इस प्रकार खाते समय नाक और हवा की नलियों पर ढकने लग जाते हैं और भोजन बिना किसी रुकावट के अपने मार्ग में चला जाता है। कभी-कभी भूलकर हम खाने या पानी का घूँट लीलते समय बात करने की कोशिश करते हैं तो भोजन या पानी का कुछ अंश हवा की नली में जा पहुँचता है। ऐसा होते ही झटके की खाँसी आती है और दम घुटने लगता है। खाँसी आते-आते जब हवा की नली में गिरा हुआ खाना-पानी बाहर को फिंक आता है तभी चैन मिलती है। इसी को ठंसा लगना या उछू लग जाना कहते हैं।

दाँत

जबड़े और उनमें लगे हुए दाँत मुँह में चक्की का काम करते हैं। मनुष्य के दाँत तीन तरह के होते हैं और खाने को कुचलने या तोड़ने-फोड़ने में प्रत्येक का अपना-अपना अलग कार्य नियत है। सामने की ओर के छेनी के सदृश चार ऊपर और चार नीचे के चपटे तेज़ दाँत काटने या कुतरने के लिए होते हैं। इनके दोनों ओर हर एक जबड़े में एक-एक लम्बा और नोकीला अत्यन्त मज़बूत दाँत और

होता है जो चीरने-फाड़ने के उपयुक्त होता है। शेष दाँतों का ऊपरी भाग (सिरा) चौड़ा होता है और ये दाँत चक्की के पाट की तरह भोजन को कुचलने और पीस डालने का काम करते हैं। दोनों तरफ़ दो-दो कुचलनेवाली अग्र डाढ़ें और तीन-तीन चबानेवाली डाढ़ें होती हैं। पूर्ण वयस्क मनुष्य में दाँतों की संख्या ३२ होती है, जिनमें काटनेवाले ८, फाड़नेवाले ४, कुचलनेवाले ८ और चबानेवाले १२ दाँत होते हैं।

शाकाहारी जन्तुओं में कुचलने या चबानेवाले दाँत (डाढ़ें) ख़ास तौर से बढ़े रहते हैं। मांसभक्षियों में फाड़नेवाले दाँत बहुत लम्बे होते हैं तथा काटनेवाले भी अधिक पैने होते हैं। उनमें जो डाढ़ें होती हैं उनके भी सिरे तीक्ष्ण और काटनेवाले होते हैं। मनुष्य में तीनों प्रकार के दाँतों का होना इस बात का प्रमाण है कि उसको सभी प्रकार का खाना खाना चाहिए। दाँत इसीलिए हैं कि खाई हुई चीज़ काटने, फाड़ने, कुचलने और चबाने के बाद लार से मिलकर ऐसी हो जाय कि उसके पचने में सुभीता हो। इनकी हालत तभी अच्छी रहती है जब इनसे ख़ूब काम लिया जाय। गन्ना खाने से, कड़े फलों को काटने से और दातौन करते रहने से वे ख़ूब अच्छे बने रहते हैं। अत्यन्त ठंडी, बहुत ही गर्म तथा सदा नर्म वस्तुओं के प्रयोग से वे निर्बल और सुकुमार हो जाते हैं। उनके ख़राब होने से खाना भी ठीक से हज़्म नहीं होता। कुछ दिनों में इसका प्रभाव सारे स्वास्थ्य पर पड़ता है। अतः यदि आप अपनी तन्दुरुस्ती क़ायम रखना चाहते हैं और दाँतों को सुदृढ़ रखना चाहते हैं तो उनसे ख़ूब काम लेते रहिए और उनकी स्वच्छता का भी पूरा ध्यान रखिए।



देखिये, भोजन कैसे अपने निश्चित मार्ग पर ही जाता है। गले के पिछले हिस्से में भोजन-नली के अलावा दो सूराख़ और हैं—एक तो नाक को जानेवाला मार्ग और दूसरा श्वास-नली का रास्ता। जब चबाया हुआ कौर ढकिलकर जीभ के पीछे गले में उतरने लगता है तो नाकवाले सूराख़ के सामने लटकते हुए कौए को इस प्रकार ढकेल देता है कि वह सूराख़ बन्द हो जाता है और खाना आगे बढ़ जाता है। जब वह और नीचे पहुँचता है तो स्वरयंत्र की नर्म हड्डियाँ सरककर श्वास-नली के छिद्र को छोटा कर देती हैं। ऐसा होने से कौर स्वरयंत्र-च्छद को ढकेलकर सूराख़ को बन्द करता हुआ अपनी राह पर आगे बढ़ जाता है।

मानव-जीवन में दाँत दो बार निकलते हैं

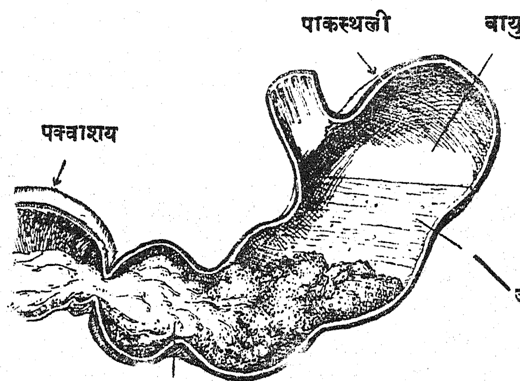
जन्म के सातवें-नवें महीने में जो दाँत सबसे पहले निकलते हैं वे दूध के दाँत कहलाते हैं और गिनती में २० ही होते हैं। असली दाँतों के मुक़ाबले में ये दाँत कुछ छोटे और कमज़ोर होते हैं। ये २० दाँत पूरे-पूरे ३ वर्ष की उम्र तक निकल आते हैं और ६ और ७ वर्ष की अवस्था में एक-एक करके गिरने लगते हैं। १०–१२ वर्ष की उम्र होते-होते असली दाँत या अन्न के दाँत निकल आते हैं। वास्तव में, जैसे-जैसे असली दाँत बढ़ते जाते हैं दूध के दाँत ढकिल-ढकिलकर बाहर गिरते जाते हैं।

आमाशय

चबाया हुआ भोजन लार के साथ मिलकर भोजन की नली में उतरता है और उसकी दीवाल की पेशियों के संकोच से धीरे-धीरे ढकिलकर गले से नीचे उतर आमाशय की थैली में जा पहुँचता है। दैनिक बोल-चाल में हम आमाशय को ही पेट कहते हैं। पृ० १६६२ का चित्र देखिये, आमाशय अन्न-मार्ग का ही एक फैला हुआ भाग है, जो एक छोटी-सी मशक़ की भाँति धड़ के क़रीब-क़रीब बीच में एक ओर से दूसरी ओर को फैला हुआ है। इस थैली में दो रास्ते होते हैं—एक मार्ग से तो उसमें गले से भोजन आता है और दूसरे से पचा हुआ भोजन निकलकर आँत में उतरता है। आनेवाले मार्ग को आमाशय का हृदय-द्वार और जानेवाले को पक्वाशयिक द्वार कहते हैं। दूसरा द्वार मज़बूत चक्राकार पेशियों से घिरा रहता है और आम तौर से कसकर बन्द रहता है। ये मांस-पेशियाँ मानों पहरेदार का काम करती हैं। आमाशय में भोजन की पाचन-क्रिया जब तक पूरी नहीं होती तब तक ये पुट्ठे उसको आँत में जाने नहीं देते। आमाशय के अन्दर की पाचन-क्रिया के प्रारम्भ में पक्वाशयिक द्वार बन्द रहता है और उसके हल्के संकोचों से खुल नहीं जाता। इसलिए भोजन घूम-फिर-कर थैली ही में बना रहता है। ज्यों-ज्यों पाचन-क्रिया पूरी होती जाती है मैदे की सिकुड़न भी ज़ोरदार होती जाती है और उसमें से आँत को जानेवाला रास्ता खुलने लगता है। तब सिकुड़न की प्रत्येक लहर के साथ

थोड़ा-थोड़ा घुला हुआ आहार आँत में जाने लगता है।

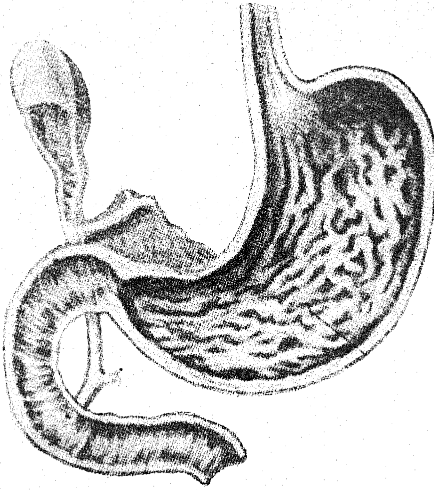
वयस्क मनुष्य के आमाशय की लम्बाई लगभग १ फ़ुट और चौड़ाई क़रीब-क़रीब ४ इंच होती है। उसकी समाई १॥ सेर की होती है। किन्तु यह समाई आयु के अनुसार बदलती रहती है। नवजात शिशु के आमाशय में आधे या पौन छटाँक तक दूध की जगह होती है। खाली होने पर आमाशय की दीवालें बिना हवा भरे फ़ुटबाल के ब्लेडर के सदृश एक दूसरे से मिली रहती हैं और उसकी शक्ल ट्यूब की-सी हो जाती है। जब वह भोजन से भर जाता है तो कुछ-कुछ नासपाती की तरह दिखलाई पड़ने लगता है। इस नासपाती का चौड़ा भाग मानों ऊपर बाईं ओर तथा पतला हिस्सा नीचे को दाहिनी ओर रहता है। आमाशय की दीवाल में कई तहें होती हैं, जिनमें से पेशियों के सूत्रोंवाली तह और सबसे भीतरी श्लैष्मिक झिल्लीवाली तह सबसे ज़रूरी हैं। सूत्र तीन तहों में भिन्न भिन्न दिशाओं में फैले रहते हैं। इनके संकोच और प्रसार से भोजन आमाशय में पहुँचते ही इधर-उधर घुमाया और झकझोरा जाने लगता है। पेशियाँ ऐसे अच्छे ढंग से बनी हैं कि आहार को वे आमाशय के एक कोने से दूसरे कोने में फेंकती रहती हैं और उसको भली भाँति मथकर गाढ़े मट्ठे जैसा कर देती हैं। ज्यों-ज्यों भोजन मथा जाता है उसमें आमाशय-रस भी मिलता जाता है। यह रस उन छोटी-छोटी गुत्थियों से निकलता है जो श्लैष्मिक झिल्लीवाली तह के भीतर फैली रहती हैं और उसकी सतह पर खुलती हैं। दिन भर में यह गुत्थियाँ पाँच बोतल या और ज़्यादा रस बनाती हैं। इस भीतरी तह में एक और तरह की गुत्थियाँ रहती हैं जिनसे चिकना या लसलसा श्लेष्म निकलता रहता है। भोजन चाहे जितना कर लिया जाय आमाशय की दीवालें उसके पास ही रहती हैं और वह उनके दबाव, मन्थन तथा रस के मिलने से घुल-मिलकर आहार-रस (chyme) बन जाता है। आमाशय की पेशियों की भी गति अन्न-प्रणाली की लहरों के ही समान है। आमाशय की लहरें हर १५-२० मिनट के बाद क़रीब-क़रीब उसके बीच से उठकर पक्वाशयिक द्वार की ओर धीरे-धीरे चलती रहती हैं। आमाशय के अन्दर पाचन-क्रिया एक से तीन-चार घंटे तक चलती है। जिस तरह लार का असर श्वेतसारों पर होता है उसी तरह आमाशय-रस का असर मांसवर्द्धक पदार्थों पर होता है। जो भोजन-सामग्री आमाशय-रस से जल्दी टूट-फूट जाती है वह मैदे में कम रुकती है। इसके विपरीत जो सामग्री देर में टूटती है वह देर तक रुकी रहती है। यदि ख़ाली पेट प्यास बुझाने के लिए आप पानी पियें तो पक्वाशयिक द्वार फ़ौरन ही खुल जाता है और पानी पक्वाशय में दो मिनट के अन्दर ही पहुँच जाता है।

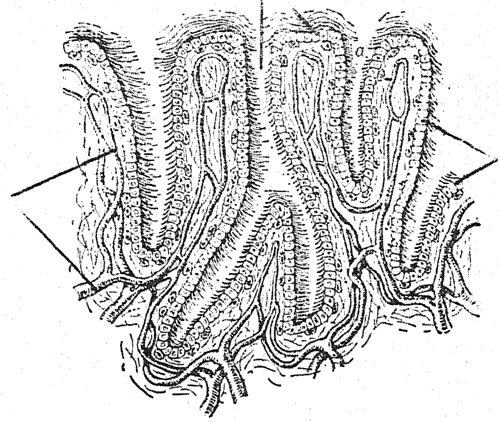


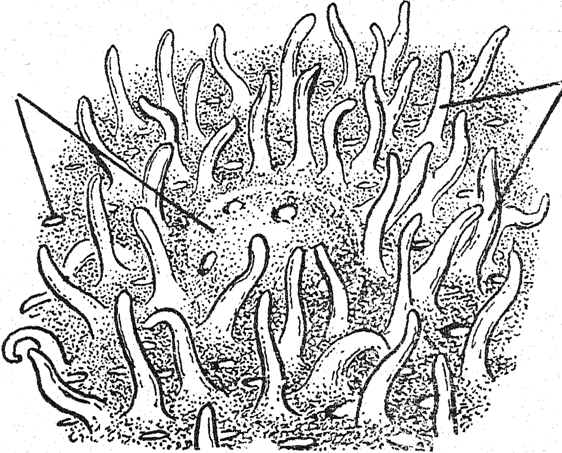
आमाशय से आहार-रस कैसे पक्वाशय में जाता है

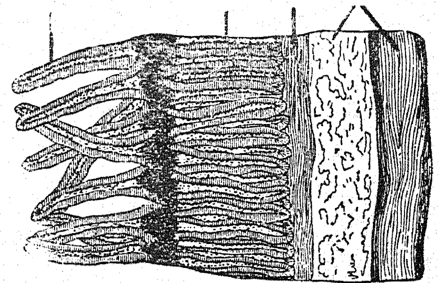
आमाशय में भोजन जब पचकर पतला पड़ जाता है तो धीरे-धीरे पक्वाशय-द्वार में होता हुआ आँत में जाने लगता है। चित्र देखिए; आमाशय के निचले हिस्से से आहार-रस बहकर पक्वाशय में जा रहा है। उसके ऊपर जल है और सबसे ऊपर हवा भरी हुई दीख रही है।

छोटी और बड़ी आँतें — आँत अन्न-प्रणाली का वह हिस्सा है जो आमाशय के पक्वाशयिक द्वार से लेकर मल-द्वार तक लम्बी टेढ़ी-मेढ़ी नली के रूप में फैला रहता है। इसके दो भाग होते हैं। पहले भाग को छोटी आँत और दूसरी को बड़ी आँत कहा जाता है। छोटी आँत लगभग २० फ़ीट लम्बी और बड़ी आँत ५ फ़ीट लम्बी होती है। छोटी आँत की मोटाई १ इंच और उसकी सतह चौरस होती है और वह बड़ी आँत से मिली रहती है। बड़ी आँत की मोटाई छोटी आँत से दुगनी होती है और सतह भी जगह-जगह पर फूली रहती है। छोटी आँत का पहला हिस्सा १० इंच लम्बा होता है, और मैदे के नीचे अर्ध-चन्द्र की शक्ल में घूमा रहता है। इसको पक्वाशय कहा जाता है। पक्वाशय के घुमाव में उदर की पिछली दीवाल से लगी हुई एक बड़ी गिल्टी होती है, जो क्लोम (pancreas) कहलाती है। क्लोम का दाहिना सिरा पक्वाशय के घेरे में और बायाँ सिरा आमाशय के पीछे तिल्ली से लगा रहता है। इस गिल्टी में जो पाचन-रस बनता है वह एक नली से होकर पक्वाशय में पहुँचता है। क्लोम-रस पक्वाशय से आये हुए भोजन में मिलकर उसको और भी पचने योग्य बना देता है, जैसा आगे बतलाया जायगा। छोटी आँत की दीवालों की बनावट भी आमाशय की दीवालों की बनावट









आमाशय और आँत की रचना

(अ) आमाशय और उससे संबद्ध आँत का दृश्य । इससे विदित होता है कि उसकी सतह कैसी खुरदरी है । (ब) आमाशय की दीवार का एक परिवर्द्धित अंश, जिसमें आमाशय-रस की नलिकाएँ, उसे बनाने वाले ग्रंथि-कोष, और रक्त-नलियाँ दिखाई गई हैं । (स) आँत के थोड़े से भाग का बढ़ाया हुआ चित्र, जिसमें उँगलियों के-से निकले हुए ग्राहकांकुर दिखलाई पड़ रहे हैं । इनके बीच-बीच में पाचक-रस बनानेवाली गुत्थियों के सूराख़ नज़र आ रहे हैं ।

(स) छोटी आँत की दीवाल से काटा गया एक पर्त, जिससे उसकी रचना का ज्ञान होता है ।

की तरह ही होती है, लेकिन उसमें पेशियों के सूत्र भिन्न-भिन्न दिशाओं में न फैलकर वृत्ताकार लिपटे रहते हैं। इन पेशियों के सिकुड़ने से ही आहार ढकिलकर धीरे-धीरे पेंचदार लम्बी छोटी आँत के अगले सिरे से बड़ी आँत तक जा पहुँचता है।

आँत की नली की मरोड़ या ऐंठन कई तरह की होती है। आँत का एक-एक पूरा घुमाव झूले के समान एक ओर से दूसरी ओर को झूलता रहता है और साथ-ही-साथ बीच के सीधे भाग जगह-जगह वृत्ताकार पुट्ठों के संकोच से विभिन्न हिस्सों में बँट जाते हैं। भोजन कुछ देर आँत के हरएक फन्दे में रुकता है, जहाँ पर इधर-उधर हिलने और मथने से पाचक रस उसमें अच्छी तरह मिल जाते हैं। थोड़ी देर के बाद एक सिकोड़ की तेज़ लहर फन्दे पर आगे से पीछे को दौड़ती है और आहार-रस आगेवाले फन्दे में सरक जाता है। इसी तरह धीरे-धीरे कभी रुकते और कभी ढकिलते हुए आहार-रस को इस २०फ़ीट की राह काटने में भगलग ३ घंटे लगते हैं। **इस समय में आहार-रस की अवस्था और रचना में बहुत कुछ परिवर्त्तन हो जाता है और इस आँत में आहार का मुख्य हिस्सा ख़ून में खिंच जाता है। कैसे?** छोटी आँत की भीतरी तह मख़मल के कपड़े की तरह होती है। जिस प्रकार मख़मल के ऊपर छोटे-छोटे महीन-महीन डोरे निकले रहते हैं उसी प्रकार श्लैष्मिक झिल्ली की सतह पर छोटी-छोटी गिल्टियों के बीच में सहस्रों पतले-पतले रेशे उभरे रहते हैं। रेशे लम्बाई में $\frac{1}{25}$ इंच होते हैं। यही **ग्राहकांकुर** कहलाते हैं। खाना हज़्म होते समय ये ग्राहकांकुर स्थिर नहीं होते, वरन् सदा कल-बलाया करते। ये कभी बढ़ते हैं, कभी सिकुड़ते और कभी इधर-उधर हिलते-डोलते रहते हैं। इन्हीं अंकुरों के सहारे आहार-रस ख़ून में मिलता है। इन चूसने वाले रेशों में से प्रत्येक के बाहर पचने योग्य आहार-रस भरा रहता और भीतर की ओर रक्त की धार बहती रहती है। आहार-रस और ख़ून की धार के बीच में अंकुरों को बनानेवाले कोषों की एक तह रहती है। ये कोष लार-ग्रन्थियों के कोषों की तरह जीते-जागते और चतुर होते हैं। वे अच्छी तरह पचे हुए आहार-रस के आवश्यक तत्त्वों को बाहर से अपने में खींच लेते हैं और उन्हें भीतर भरे हुए ख़ून की धार में मिला देते हैं। इस प्रकार प्रोटीन टूटकर अमीनोकाम्ल के रूप में, कर्बोदेत टूटकर ग्लूकोज़ या सरल शक्कर के रूप में और नमक की तरह की और साधारण वस्तुएँ बिना किसी पाचन-क्रिया के सीधी रक्त-धार में मिल जाती हैं और वहाँ से यकृत में होकर शरीर के समस्त अवयवों में पहुँच जाती हैं।

छोटी आँत में न सोखा जानेवाला भोजन का हिस्सा बड़ी आँत में चला जाता है और यदि कुछ सोखने लायक अंश बच भी रहता है तो उसको बड़ी आँत सोख लेती है। भोजन को पचाने में बड़ी आँत का बहुत ही कम भाग है, लेकिन वह बचे-बचाये गीले तरल पदार्थ में से पानी अवश्य सोख लेती है, जिससे बड़ी आँत में ठोस भाग ही बच रहता है। यही मल है जो बड़ी आँत की पेशियों के बार-बार सिकुड़ने से आगे बढ़ता है और अन्त में मलद्वार के द्वारा शरीर से त्याग दिया जाता है।

बड़ी आँत पेट में दाहिनी ओर से शुरू होकर ऊपर की तरफ़ सीधी यकृत के नीचे तक चली जाती है, फिर मुड़कर पेट को सीधा पार करके बाईं ओर जा पहुँचती है और वहाँ से घूमकर सीधी नीचे को आकर मलाशय में मिल जाती है। बड़ी आँत कुल ५-६ फ़ीट लम्बी होती है। इसकी लम्बी दौड़नेवाली पेशियाँ तीन बंडलों में इकट्ठी होती हैं। इनकी लम्बाई आँत से कम होने के कारण आँत जगह-जगह फूल जाती है। इस फुलाव की वजह से भोजन के बचे-बचाये अंश को आगे बढ़ने में देर लगती है। बड़ी आँत की भीतरी सतह में आमाशय तथा छोटी आँत की तरह न तो चुन्नटें ही होती हैं और न ग्राहकांकुर ही, लेकिन उसमें छोटी-छोटी कई गिल्टियाँ होती हैं।

छोटी और बड़ी आँत के बीच के सूराख़ को घेरे हुए पहरेदार की तरह की एक चक्राकार पेशी होती है जो भोजन के निकलने को वश में रखती है। इसके पास बड़ी आँत से छोटी-सी दुम-सा निकला हुआ जो अंश नज़र आता है वही **उपांत्र** (appendix) है। मनुष्य में इसका कोई काम नहीं है लेकिन ख़रगोश जैसे शाकाहारी स्तनपोषियों में यह अंग भी और भागों की तरह काम करता है। हममें तो वह एक ऐसा बेकार अंग है जो प्राचीन अविकसित दशा की याद दिलाता है। शरीर में इसका न होना हमारे लिए अच्छा ही होता; क्योंकि कभी-कभी उसमें तेज़ पीड़ा होने लगती है और प्राणघातक सूजन आ जाती है।

भोजन के पचने में बड़ी आँत का कोई बड़ा भाग नहीं है। इसको काटकर निकाल देने के बाद भी आदमी तन्दुरुस्त और फ़ुर्तीले बने रहते हैं। भोजन के बचे-बचाये अंश जब बड़ी आँत में पहुँचते हैं तो उनमें विशेषकर नष्ट-भ्रष्ट कोष और कीटाणु रहते हैं जो मल के सड़ने के कारण और भी बढ़ जाते हैं। इसलिए बड़ी आँत में पहुँचकर मल शरीर से जितनी जल्दी बाहर निकल जाय

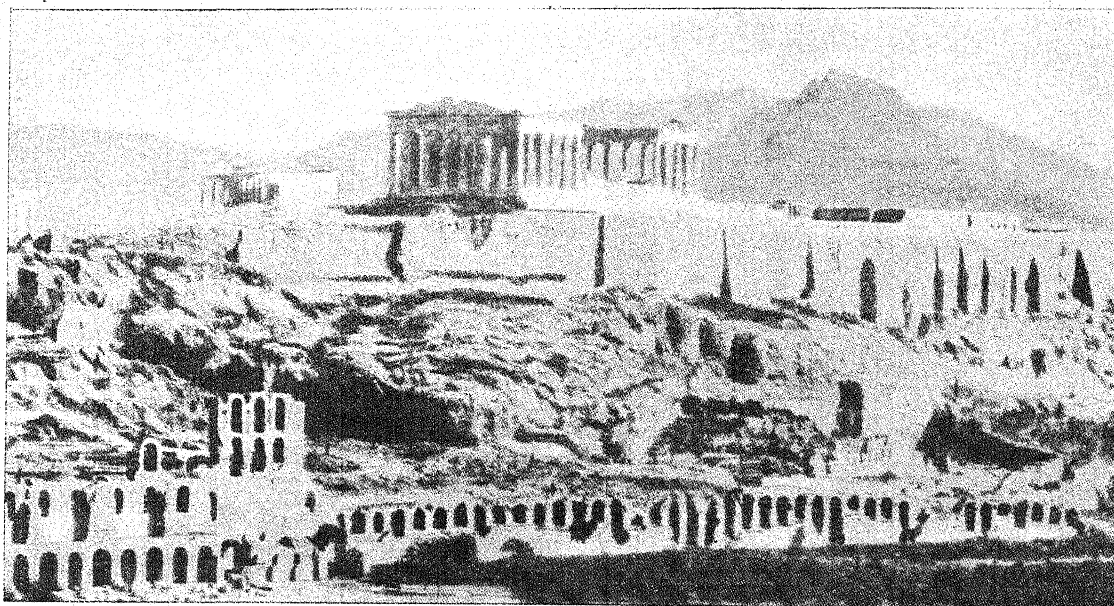
उतना ही अच्छा है ; क्योंकि इसके रुके रहने से जो पानी बड़ी आँत सोखती रहती है उसमें कुछ-न-कुछ गंदगी ज़रूर मिल जाती है। चिड़ियों में बड़ी आँत होती ही नहीं। इसलिए उनमें जैसे ही मल छोटी आँत से मलाशय में पहुँचता है वैसे ही वह बाहर निकल जाता है। अन्य जानवर और शिशुओं को भी जब ही हाजत होती है वे पाख़ाना कर लेते हैं। अधिकतर लोग दिन में एक बार ही मल-विसर्जन करते हैं। यह बड़ी दिलचस्प बात है कि मनुष्य की वर्त्तमान आवश्यकताओं के हिसाब से उसकी अन्न-प्रणाली ज़रूरत से ज़्यादा लम्बी है। भोजन करने के समय से उसके मलाशय तक पहुँचने में कम-से-कम २४–२६ घंटे लगते हैं। इतनी देर में ज़रूर बहुत कुछ सड़न उसमें आ जाती है, जिससे सहस्रों बैक्टीरिया और दूषित वायव्य पैदा हो जाते हैं। लंदन के प्रसिद्ध चीर-फाड़ करनेवाले एक डाक्टर का कथन है कि अगर मनुष्य का आमाशय, उपांत्र और बड़ी आँत निकाल दिये जायँ तो हानि की अपेक्षा कुछ फ़ायदा ही हो जाय।

यकृत या जिगर

आँत से सम्बन्ध रखनेवाले अंगों में यकृत या जिगर ही सबसे बड़ा और आवश्यक है। तौल में वह १॥–१॥। सेर होता है। वह दाहिनी ओर की पसलियों के भीतर काफ़ी दूर तक छिपा रहता है, और उसका कुछ हिस्सा बाईं ओर आमाशय के सामने तक भी रहता है। उसके ऊपर दाहिना फेफड़ा और नीचे आँतें रहती हैं। जिगर के चार गोलाकार खण्ड होते हैं जिनमें से दो छोटे और दो बड़े रहते हैं। किरमिज़ी रंग का यह भारी और ठोस अंग ग्रन्थि-कोषों से परिपूर्ण रहता है। इनके बीच में रक्त-नलिकाओं की अत्यन्त सूक्ष्म शाखायें फैली रहती हैं। यकृत कई कार्य करता है। वह भोजन के पाचन में ही सहायता नहीं करता वरन् टूटे-फूटे बेकार रक्त-कणों और ख़ून में संयोग-वश आये हुए ठोस टुकड़ों—बैक्टीरिया इत्यादि—को ख़ून की धारा से अलग करके ख़ून को साफ़ कर देता है। इतना ही नहीं, वह पचाये हुए आहार का भाण्डार भी है। जब जिगर के काम में कोई गड़बड़ी हो जाती है या जब ज़रूरत से ज़्यादा मीठा खाना खाने के कारण जिगर का भाण्डार ठुस जाता है तब पित्त का विकार हो जाता है, मिज़ाज में चिड़चिड़ापन आ जाता है और बदहज़मी के चिह्न नज़र आने लगते हैं। अंग्रेज़ी की इस कहावत में बहुत कुछ सचाई है कि "जीवन की सार्थकता यकृत पर ही निर्भर है।"

जिगर का एक टुकड़ा अगर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में देखा जाय तो उसमें अधिकतर कई पहलवाले बड़े कोष ही दिखाई देंगे (पृ० १६६२ का निचला चित्र देखिये)। इन कोषों के बीच में केन्द्र (nucleus) बड़ा होता है और उनको बनानेवाला जीवन-मूल दानेदार होता है। अक्सर उसके बीच में बहुत-सी नन्हीं-नन्हीं तेल की चमकदार बूँदें होती हैं। ये कोष समूहों में एकत्रित रहते हैं और एक प्रकार का पाचन-रस बनाते हैं। इसी रस का नाम पित्त है। यह कसैला हरा-पीला रस कोषों से निकल महीन-महीन शाखाओं द्वारा दाहिनी या बाईं ओर की बड़ी नलिकाओं में बह आता है। ये दोनों नलियाँ जिगर के बाहर आकर एक दूसरे में मिल जाती हैं। जिगर के नीचे की ओर एक छोटी-सी थैली—**पित्ताशय**—होती है। इसमें पित्त इकट्ठा होता रहता है। इस थैली से एक नली निकलकर जिगरवाली नली से मिलकर **पित्त की नली** बनाती है। यह नली क्लोम-रस की नली के साथ-साथ पक्वाशय में प्रवेश करती है और अपना रस पक्वाशय के अन्दर पहुँचाकर आहार-रस को प्रभावित करती है। पित्त क्लोम-रस की मदद करता है और उसकी चिकनाई को पचने योग्य बनाता है। इनके मिलने से आहार-रस ख़ून में जल्दी मिलने लायक़ हो जाता है। छोटी आँत में जब पित्त नहीं पहुँचता तो क्लोम-रस को अपना काम करने में अड़चन होती है। जब कभी सर्दी के कारण पित्त-नली या उसकी आँत में खुलने की जगह पर सूजन आ जाती है तो पित्त आँत में पहुँचने से रुक जाता है और आहार-रस की चिकनाइयाँ हज़्म नहीं होतीं तथा दूसरे पदार्थों पर फैलकर उन्हें भी हज़्म नहीं होने देतीं। जिगर में रुका हुआ पित्त ज़ोर करके ख़ून में प्रवेश कर जाता है जिससे आँखें और खाल पीली हो जाती हैं। यही कमल रोग कहा जाता है। शराब अधिक पीने से भी जिगर में जल्दी ही ख़राबी आ जाती है।

इन बातों से विदित होता है कि शरीर के अंगों में यकृत एक बड़ा आवश्यक और नाज़ुक कारख़ाना है जो थोड़ी-सी भी लापरवाही से बिगड़ जाता है और समस्त शरीर पर अपना प्रभाव डालता है। इसलिए हमको उसकी सारी क्रियाओं को अच्छी तरह समझना चाहिए। इसकी सारी क्रियाओं की पूर्ण कहानी हम आपको फिर कभी सुनायेंगे। आगे के लेख में यह बतलाया जायगा कि अन्न-प्रणाली में बननेवाले रसों का भोजन पर रासायनिक प्रभाव कैसे पड़ता है।



एथेन्स नगर के ध्वंसावशेष जो आज भी उसके विगत गौरव की याद संसार को दिलाते हैं



महान् विजेता सिकंदर या एलैक्ज़ैण्डर
जिसने अपने बाहुबल से ग्रीस की शक्ति और सभ्यता का झंडा दूर-दूर देशों तक फहरा दिया था।



एथेन्स का सर्वश्रेष्ठ शासक पेरिक्लीज़
जिसका शासन-काल 'एथेन्स का स्वर्णयुग' माना जाता है।



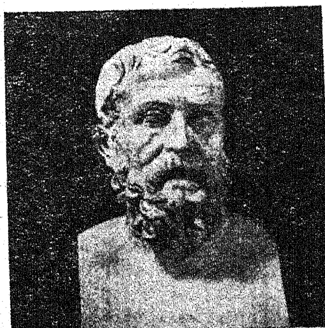
सभ्यताओं का उदय—(९) प्राचीन ग्रीस

२—एथेन्स का अभ्युत्थान और पतन

इसी स्तंभ के पिछले लेख में ग्रीस के शक्तिशाली नगर-राज्य स्पार्टा के उत्थान और पतन का हाल सुनाया गया था प्रस्तुत लेख में ग्रीस के ही एक दूसरे महत्त्वपूर्ण नगर-राज्य, एथेन्स, की शक्ति के चढ़ाव-उतार की कथा सुनाई जा रही है। एथेन्स ने सभ्यता में ग्रीस के नगर-राज्यों में सबसे बाज़ी मार ली थी। एक ज़माने में तो वह संसार का सिरमौर हो गया था। इस लेख में उसके राजनीतिक इतिहास का ही वर्णन दिया गया है, उसकी सभ्यता का मनोरंजक हाल आपको इससे आगे के लेख में सुनाया जायगा।

ग्रीस में कितने ही छोटे और बड़े नगर थे। वहाँ एकछत्र राज्य न था। प्रत्येक नगर स्वतंत्र था। उसकी राजनीतिक संस्थाएँ, तथा आर्थिक, सामाजिक और मानसिक जीवन उसके निवासियों के मनोनुकूल और उनकी योग्यता के अनुसार विकसित हो रहा था। व्यापार एवं प्रबल शत्रुओं के भय से आवश्यकता पड़ने पर विशेष प्रयोजन और काल के लिए ये नगर सम्मिलित भी हो जाते थे, अन्यथा वे एक दूसरे से स्वतंत्र थे। उनमें आपस में युद्ध और दाँव-पेच चलते रहते थे। उन सबों पर स्पार्टा नगर ने अपने संगठन और पराक्रम से ऐसा रोब जमा दिया था कि वह सब नगरों का नेता-सा गिना जाने लगा। युद्ध और रक्षा के अवसर पर स्पार्टा का ही नेतृत्व माना जाता था। स्पार्टा के प्राधान्य का प्रतिस्पर्धी एथेन्स नामक नागरिक प्रान्त भी था। इन दोनों नगर-राज्यों का संघर्षण ग्रीस के इतिहास की न केवल महत्वपूर्ण वरन् निर्णायक घटना है।

ग्रीस के पूर्व कोण में एक अन्तरीप है, जो प्राचीन काल में 'एटिक' के नाम से प्रख्यात था। वहाँ छोटे-छोटे-से अनेक नगर थे। इनमें जो वंश बसा था वह 'एथेन्स' के नाम से प्रसिद्ध था। वहाँ के निवासी एथीनियन कहे जाते हैं। उन छोटे-छोटे नगरों पर एक नगर ने अपना प्रभुत्व स्थापित करके उन्हें एक कर दिया। यही नागरिक प्रान्त एथेन्स के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। वहाँ पहले राजा का शासन था। उस समय ज़मींदार और धनी व्यापारी लोगों के ही हाथ में सब अधिकार थे, कृषक लोगों की दशा शोचनीय थी। वे बिल्कुल दरिद्र थे। उनके पास ज़मीन के छोटे-छोटे टुकड़े थे, जिनसे विशेष लाभ न होता था। बकरी की खाल से शरीर ढाँके वे लोग दिन-रात मजूरी करते थे। उनके अधिकार नहीं के बराबर थे। उन्हें जीविका-उपार्जन से इतना अवकाश ही न मिलता था कि वे अधिकारों की चिन्ता या सामूहिक संगठन कर सकें अथवा सैनिक शिक्षा प्राप्त कर सकें। ज़मींदारों और धनिकों का बल इतना बढ़ गया कि वहाँ के राजा नाममात्र के लिए रह गए और अन्त में विलीन हो गए।



एथेन्स का क़ानून-निर्माता सोलन

प्रबल ज़मींदारों और धनिकों का काम लूट-मार करना, जल-थल में डाके मारना और व्यापार करना था। उनके व्यापार एवं अत्याचार के कारण ग़रीब लोग भाग-भागकर इधर-उधर बसने लगे। इस प्रकार काले समुद्र के तट, एशिया माइनर के तट, इटली के समुद्र-तट और भूमध्य-सागर के टापुओं में ग्रीक लोगों के उपनिवेश स्थापित हो गए। भाषा, साहित्य, जातीय उत्सव तथा धर्म आदि उनको एकता के सूत्र

में बाँधे रहे। वे लोग दूसरे लोगों और जातियों से श्रेष्ठ होने का अभिमान रखते थे। ज्यों-ज्यों उनका व्यापार बढ़ता गया, त्यों-त्यों उनका सामुद्रिक बेड़ा और शक्ति भी बढ़ती गई। माल की माँग की पूर्त्ति के लिए उन्होंने ग़ुलामों से काम लेना शुरू कर दिया। सिक्कों का भी प्रचलन ग्रीस में अच्छी तरह हो गया। लोग सिक्के जमा करके धनी होने लगे। ग़रीब लोगों को सूद पर क़र्ज़ देकर पैसेवाले उनकी ज़मीन पर अधिकार जमाते चले गए। रुपयेवालों की अपने राज्याधिकार बढ़ाने की कामना बढ़ने लगी। ऐसी परिस्थिति से वह ज़मींदार जो धनिकों और किसानों के अधिकारों को बढ़ाने का प्रयत्न करता उनका पूज्य नेता बन जाता। उनकी सहायता से वह अपने प्रतिस्पर्धी ज़मींदारों को निर्बल करके अपना प्राबल्य स्थापित कर देता था। ऐसे नेता को राजा न कहकर वहाँ के लोग "टाइरेन्ट" कहते थे। यह शब्द उस समय घृणासूचक नहीं माना जाता था। वस्तुतः ये लोग हिटलर और मुसोलिनी के समान डिक्टेटर थे।

ईसा के पूर्व की छठी शती 'टाइरेन्ट' काल का सबसे उत्कृष्ट समय था, यद्यपि उसका आरम्भ पहले ही हो चुका था। इसी काल में ग्रीस में क़ानून लिखे जाने लगे। सबसे पहले क़ानून का संग्रह ड्रैको ने किया। ड्रैको के क़ानून बड़े कठोर थे। छोटे-छोटे से जुर्म के लिए मृत्यु-दण्ड का विधान था। एथेन्स के क़ानून-निर्माताओं में सोलन का वही स्थान है, जो स्पार्टा में लाइकर्गस और भारतवर्ष में मनु का है। सोलन व्यापारी, देशभक्त, दार्शनिक और कवि भी था। उसके क़ानूनों में इन सबके गुणों की कुछ-न-कुछ छाया दिखायी देती है। उसने उन लोगों को जो क़र्ज़ अदा न कर सकने के कारण ग़ुलाम बना लिए गए थे स्वतंत्र कर दिया। धरोहर में रखी हुई ज़मीन को छुड़ा दिया। अपने कुटुम्ब को बेचने या उनके शरीर को धरोहर रखकर क़र्ज़ लेने की प्रथा उठा दी। उसने ग़रीब नागरिकों को सभासद होने का अधिकार दिलाया, किन्तु ये लोग पदाधिकारी नहीं चुने जा सकते थे। न्यायालयों में सब नागरिकों के समान अधिकार माने गए। मुक़दमा हारने पर लोग जूरी को अपील कर सकते थे। साधारण लोगों को अठारह से बीस वर्ष की अवस्था तक सैनिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। प्रत्येक युवक के लिए किसी-न-किसी व्यापार की शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक बना दिया। कुशल कारीगर को नागरिक के अधिकार मिलने की व्यवस्था की गई। नागरिकों में राजनीतिक जागृति क़ायम रखने के लिए यह नियम रखा गया कि जो लोग राजनीतिक विषयों में भाग लेने से विमुख हों उनके नागरिक अधिकार छीन लिए जायँ। सोलन ने व्यापार-संघों का स्थापन किया। चाँदी के हल्के सिक्कों का प्रचलन कराया। साधारण नागरिकों की स्थिति सुधारने की चेष्टा के अलावा उसने उन्हें राजनीति और व्यापार में अधिकाधिक भाग लेने की भी उत्तेजना दी। लाइकर्गस की तरह उसने सैनिक जीवन को प्रधानता न दी। स्त्रियों के प्रति सोलन के क़ानून उदार न थे। गृह को ही उसने उनका एकमात्र कार्यक्षेत्र बना दिया था। रात में घर से बाहर वे निकलने न पाती थीं। यद्यपि राजनीतिक अधिकारों का उसने आर्थिक आधार रखा था तथापि व्यापार द्वारा अमीर बनेनवालों को उसने राज्य के उच्चपदों से वञ्चित रखा। उच्च कुल के ज़मींदारों के पदग्रहण करने के एकमात्र अधिकार को क्लिस्थनीज़ नामक सुधारक ने कम किया। इसने व्यापार द्वारा बढ़े हुए लोगों के अधिकारों की वृद्धि की। यही नहीं 'टाइरेन्ट' लोगों को भी नियंत्रण में रखने के लिए क्लिस्थनीज़ ने "निर्वासन" का विधान प्रचलित किया। जिस व्यक्ति के विरुद्ध जनता अपना मत वोट द्वारा प्रकट करती थी उसे दश वर्ष के लिए देश से बाहर निकलना पड़ता था।

उपर्युक्त क़ानूनों से लोगों को राजनीति एवं व्यापार में अधिकाधिक भाग लेने की प्रबल प्रेरणा हुई। इसी काल में पिसिस्ट्रेटस ने एथेन्स की सामुद्रिक शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न किया। तब से एथेन्स का सामुद्रिक बेड़ा उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। एथेन्स का नागरिक आदर्श, वहाँ के लोगों की शिक्षा-दीक्षा, एवं उनकी जीवनचर्या स्पार्टावालों से विभिन्न थी। एथेन्सवाले उदारचेता, जनसत्तावादी, व्यापार-प्रेमी, धनलोलुप, ऐश-आराम-पसन्द, साहित्य-विज्ञान-सेवी, कला-विलासी और प्रगतिशील थे। यद्यपि वे जनसत्तावादी थे तथापि उनमें साम्राज्य के विस्तार की कामना भी जाग्रत थी। एथेन्स और स्पार्टा के आदर्शों का संघर्ष अवश्यम्भावी था। स्पार्टा का आतंक एथेन्स पर तब तक रहा जब तक कि एथेन्सवालों को अपनी शक्ति का अनुभव न हुआ। यह अनुभव उन्हें फ़ारस के साथ युद्ध करने से हुआ।

लीडिया राज्य के पतन से फ़ारस के सम्राट् के अधिकार में एशिया माइनर और ईजियन समुद्र के अनेक टापू चले गये। अब फ़ारस और ग्रीस का आमना-सामना हो गया। आयोनियन नगरों ने जब विद्रोह का झंडा उठाया तब उनकी सहायता एथेन्सवालों ने की। इस पर क्रुद्ध होकर

फ़ारस के सम्राट् दारा ने ४६२ वर्ष ईस्वी पूर्व ग्रीस पर आक्रमण किया। स्थल-मार्ग की कठिनाइयों से उसने जल-मार्ग द्वारा ४६० ई० पू० फिर द्वितीय आक्रमण किया। फ़ारस की सेना मेराथान खाड़ी के तट पर उतर पड़ी। एथेन्स की सहायता के लिए कुछ ग्रीक नगरों ने सेनाएँ भेजीं। ग्रीक लोग पहाड़ों की आड़ में युद्ध करने लगे। एक मार्के में फ़ारस की सेना के छः सहस्र सैनिक मारे गए। इससे चकित होकर फ़ारसी सेना लौट गई। उस विजय में एथेन्सवालों का आत्म-विश्वास और उत्साह बहुत बढ़ गया। अनुभव से उन्हें यह भी ज्ञात हो गया कि स्थल-सेना से भी अधिक उपयोगी जल-सेना है। अतएव थेमिस्टाकलीज़ के निरीक्षण में सामुद्रिक बेड़ा सुसंगठित किया जाने लगा।

फ़ारस के सम्राट् ज़ेरेक्सीज़ ने ४८० ई० पू० ग्रीस पर जल और स्थल दोनों मार्गों से आक्रमण किया। इस प्रयत्न में उसको कार्थेजवालों की भी सहायता मिली। इधर एथेन्स और स्पार्टा ने भी अपनी संयुक्त शक्ति से उनका विरोध किया। यद्यपि तूफ़ान आ जाने से फ़ारस के कार्यक्रम में विघ्न पड़ गया तथापि स्थल पर ग्रीक सेना को परास्त करके फ़ारसी सैनिक एथेन्स पहुँच गए। उन्होंने एथेन्स में आग लगा दी। किन्तु 'सेलमिस' की खाड़ी में फारस का जहाज़ी बेड़ा ग्रीक बेड़े द्वारा नष्टप्राय कर दिया गया। उधर सिराक्यूज़ के ग्रीक-निवासियों ने कार्थेजवालों को भी परास्त कर दिया। इन विजयों से एथेन्स का सामुद्रिक प्रभुत्व पूर्णतया स्थापित हो गया। स्थलयुद्ध में भी एथेन्स और स्पार्टा को प्लाटी के क्षेत्र में सफलता प्राप्त हुई। फ़ारसी सेनापति मारडोनियस मारा गया और फ़ारसी सेना को सदा के लिए ग्रीस की भूमि छोड़ देना पड़ी।

फ़ारस का भय दूर हो जाने से स्पार्टा और एथेन्स में अब स्पर्धा अधिक जाग्रत हो गई। स्पार्टा के राजनीतिक और सामाजिक आदर्श एथेन्सवालों से भिन्न थे। स्पार्टा प्राचीन अधिकारों, आदर्शों और संस्थाओं का संरक्षक एवं नेता था। इसके विपरीत एथेन्स नवीन भावों का समर्थक और पथ-प्रदर्शक था। उन दोनों का संघर्ष अवश्यम्भावी-सा हो गया। एथेन्सवालों ने अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए अपने सहयोगी नगरों को एक सूत्र में बाँधकर "डीलियन लीग" नाम की संस्था का संगठन किया। इस बल-सञ्चय और प्रबल संगठन से स्पार्टा को चिन्ता होने लगी।

एथेन्स की उन्नति केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि आर्थिक, सामाजिक एवं अन्य क्षेत्रों में भी हुई। ईसा के पूर्व की पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध तक एथेन्स अपने ऐश्वर्य और वैभव की पराकाष्ठा को पहुँच गया। एथेन्स के निर्माताओं में 'पेरिक्लीज़' का प्रमुख स्थान है। उसका समय एथेन्स का स्वर्णयुग माना जाता है। उसी के समय में एथेन्स और स्पार्टा का प्रथम युद्ध छिड़ा जो चौदह वर्ष तक (४५६-४४६ ई० पू०) चलता रहा। इतिहास में यह पेलोपोनेशियन युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। एथेन्स ने अपनी सामुद्रिक शक्ति के अभिमान में फ़ारस के खिलाफ़ मिस्र देश की सहायता के लिए भी एक बेड़ा भेजा था। किन्तु वह समस्त बेड़ा नष्ट हो गया। दो टापुओं को छोड़कर एथेन्स के अधिकार में कोई अन्य स्थान न रहा। हाँ, इतना लाभ अवश्य हुआ कि डीलियन लीग का ख़ज़ाना डिलास से एथेन्स चला आया। पन्द्रह वर्ष के व्यर्थ के युद्ध से एथेन्स और स्पार्टा की शक्ति क्षीण हो गई। किन्तु उनकी लाग-डाँट का अन्त न हो सका। आग धीरे-धीरे सुलगती रही।

यद्यपि एथेन्स प्रजातंत्र राज्य था, किन्तु अपने अधीनस्थ और सहयोगी राज्यों के प्रति उसका व्यवहार स्वार्थपूर्ण था। फ़ारस का भय हट-सा गया था इसलिए डीलियन लीग के सदस्य एथेन्स को जन और धन से सहायता देना अनावश्यक समझने लगे। इस पर एथेन्स ने ज़बरदस्ती उनसे कर वसूल करना आरम्भ कर दिया। उस धन से एथेन्स नगर की शोभा और समृद्धि बढ़ाई जाने लगी। इस नीति से करद राज्यों में असन्तोष फैलता गया। एथीनियनों को छोड़कर अन्य लोगों के साथ ऐसा व्यवहार किया जाने लगा मानों वे एथेन्स की प्रजा हैं। इसी से क्षुब्ध होकर लीग के कुछ सदस्य तो भीतर ही भीतर और कुछ खुल्लमखुल्ला स्पार्टा से सहायता माँगने और विद्रोह करने लगे। परिणाम यह हुआ कि द्वितीय पेलोपोनेशियन युद्ध छिड़ गया। एथेन्स ने अपनी सामुद्रिक शक्ति तो बढ़ा ली थी किन्तु स्थलसेना की ओर विशेष ध्यान न दिया था। इसी कारण स्थल पर स्पार्टावालों को विशेष सफलता रही। एथेन्स अपनी क़िलाबन्दी के कारण बचता रहा। किन्तु नगर में जनसंख्या के बढ़ जाने व प्लेग फैलने से उसे बड़ी आपत्ति उठाना पड़ी। पेरिक्लीज़ भी उसी से मर गया। दस वर्ष तक व्यर्थ शक्तिक्षय करने पर एथेन्स को अनुभव हो गया कि वह अपना एकमात्र प्रभुत्व नहीं स्थापित कर सकता। स्पार्टा ने भी जान लिया कि एथेन्स की सामुद्रिक शक्ति को तोड़ना या उसकी अवहेला करना असंभव-सा

है। अतएव शिथिल होकर वे कुछ वर्षों के लिए शान्त हो गए।

आदर्शों की विभिन्नता एवं महत्वाकांक्षाओं के कारण शान्ति अधिक समय तक न रह सकी। एथेन्स चाहता था कि उन राज्यों को जिन्होंने एथेन्स का साथ छोड़ दिया था फिर से उसकी शरण में आने के लिए स्पार्टा मजबूर करे। स्पार्टा इस पर राज़ी न था। जब एथेन्स ने सिसली द्वीप के सिराक्यूज़ नामक राज्य पर आक्रमण किया तब स्पार्टा ने सिराक्यूज़ की सहायता की। इस युद्ध में एथेन्स का जहाज़ी बेड़ा और सेना पूर्णतया नष्ट हो गए। इधर स्पार्टा ने एथेन्स का अवरोध कर दिया। परिणाम यह हुआ कि एथेन्स का साथ सबने छोड़ दिया। उसकी आर्थिक स्थिति बहुत शोचनीय हो गई। जनतंत्र राज्य के प्रति श्रद्धा हटने लगी और आपसी झगड़े बढ़ने लगे। ऐसी विषम स्थिति में एलसीबिएडीज़ के नेतृत्व में कुछ समय तक एथेन्स ने आत्मरक्षा का प्रयत्न किया, किन्तु अधिक सफलता न हुई। एगोस्पोटेमी के युद्ध में एथेन्स का जहाज़ी बेड़ा पकड़ लिया गया और नगर पर स्पार्टा-वालों का अधिकार हो गया (४०५-४०४ ई० पू०)। पेरिक्लीज़ की मृत्यु के सत्ताईस वर्ष के बाद ही एथेन्स का राज्य और उसकी स्वतंत्रता का नाश हो गया।

स्पार्टावालों के हाथ में ग्रीस का आधिपत्य आ जाने से जनतंत्र राज्य के स्थान पर सैनिक शासन का प्राबल्य बढ़ा। ग्रीस के नगरों में फ़ौजी पड़ाव डाल दिये गए। सैनिक नेता स्वेच्छापूर्वक शासन करने लगे। साम्राज्य की शक्ति मुट्ठी भर आदमियों के हाथ में चली गई। इस प्रकार के शासन का नाम 'ऑलीगार्की' था। धर-पकड़, मार-पीट, क़ैद, निर्वासन और हत्याकाण्ड के ताण्डव नृत्य का दृश्य उपस्थित हो गया। जनतंत्र के सिद्धान्त की ओर से लोगों की श्रद्धा हट गई। उसकी कमज़ोरी, स्वार्थपरता, ख़र्चीली, विभिन्न मतों की अधिकता की वजह से शीघ्र निश्चय एवं कार्य-सम्पादन की अक्षमता तथा पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष और लोभ आदि के कारण बने रहनेवाले षड्यंत्रपूर्ण वातावरण आदि दोषों के कारण लोग उससे विमुख हो गए। किन्तु स्पार्टावालों के कठोर, एवं निष्ठुर, शासन से व्याकुल होकर उसके नाश के लिए भी योजनाएँ होने लगीं। स्पार्टा की शक्ति को क्षीण और नष्ट करनेवाली योजनाओं को फ़ारस के राज्य से उत्तेजना और सहायता मिलती रही। एथेन्स, थेबीज़ और कारिन्थ के निवासियों ने स्पार्टा के विरुद्ध एक संघ की रचना की और युद्ध छेड़ दिया। इसे "कॉरिन्थियन युद्ध" कहते हैं। आठ वर्ष तक युद्ध चलता रहा। लाचार होकर स्पार्टा को फ़ारस की शरण लेनी पड़ी। फ़ारस के बादशाह ने जब स्पार्टा के विरोधियों की सहायता करना बन्द कर दी, तब युद्ध शान्त हो गया (३९५-३८७ ई० पू०)। इस युद्ध का यह परिणाम हुआ कि एशिया कोचक के ग्रीसवालों के नगर फ़ारस के हाथ में चले गए। स्पार्टावालों को फिर भी अन्य राज्यवाले घृणा से देखते रहे। थेबीज़वाले एपेमिनोन्डेस के नेतृत्व में उसके प्रमुख विरोधी थे। उसने ल्यूकट्रा के युद्ध में (३७१ ई० पू०) स्पार्टा को ऐसी बुरी तरह परास्त किया कि स्पार्टा का प्रताप बहुत क्षीण हो गया। इस विजय से थेबीज़ को कोई विशेष लाभ न हुआ। नौ वर्ष के बाद स्पार्टावालों ने युद्ध में एपेमिनोन्डेस को मेन्टीनिया के युद्ध (३६२ ई० पू०) में हराकर मार डाला। उसके मरते ही थेबीज़ का बल टूट गया। अब ग्रीस में ऐसा कोई राज्य न रहा जो सबों को अपने नेतृत्व में संयुक्त कर सकता। वहाँ के राज्य दिनों दिन कमज़ोर होते चले गए।

उपर्युक्त परिस्थिति से लाभ उठाकर ग्रीस के उत्तर में मक़दूनिया राज्य प्रबल होने लगा। वहाँ के लोग इतने सभ्य तो न थे, किन्तु युद्ध करने में पराक्रमी थे। ३६० ई० पू० फिलिप वहाँ का राजा हुआ। उसने सेना को अच्छे प्रकार से संगठित करके ग्रीस के राज्यों को केरीनिया के युद्ध (३३८ ई० पू०) में हराकर उन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर दिया। केवल स्पार्टा ही ने उसके आधिपत्य को स्वीकार नहीं किया। फिलिप की हत्या के पश्चात् उसका पुत्र सिकन्दर सिंहासनासीन हुआ। वह ग्रीक सभ्यता का प्रेमी और पोषक था। उसने ग्रीस पर अपना अधिकार दृढ़ करके फ़ारस के साम्राज्य पर चढ़ाई की। एशिया कोचक, उत्तरी मिस्र, फ़ारस को जीतता हुआ वह पंजाब तक चला आया। उसके साहस, परिश्रम एवं नीति के कारण ग्रीस की सभ्यता का अच्छा प्रसार हुआ। पंजाब से लौटकर वह बेबीलान पहुँचा। अचानक विषम ज्वर से वहीं उसकी तेंतीस वर्ष की अवस्था में मृत्यु हो गई। (३२३ ई० पू०)। उसके मरते ही उसका साम्राज्य तीन टुकड़ों में विभक्त हो गया। ग्रीस की रियासतों पर भी मक़दूनिया का आधिपत्य जाता-सा रहा। यद्यपि उनको बहुत कुछ आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई, परन्तु उनकी दशा पहली-सी कभी न हो सकी। वे निस्तेज और नगण्य हो गयीं।



कृषि और संस्कृति

मानव सभ्यता के इतिहास में कृषि एक अघटन घटीयसी कला है। सब आविष्कारों में कृषि के आविष्कार ने ही मनुष्य को असभ्य से सभ्य बनाया है। तुषार-युग के अन्त में जब पृथ्वी की जलवायु मनुष्य के अनुकूल हुई तभी मनुष्य ने कृषि का आविष्कार किया। इस आविष्कार के फलस्वरूप उसकी जीवन-यात्रा पूर्णरूपेण बदल गई। ईसा से प्रायः ६००० वर्ष पहले मिस्र, मसोपटेमिया तथा पंजाब में मनुष्यों ने छोटे-छोटे गाँव तथा नगर बसाए और कृषि-कार्य का आरंभ किया। नील, दजला, फ़रात तथा सिन्धु की घाटियों में नियमानुसार ऋतु-परिवर्त्तन, गरमी के बाद वर्षा का होना, मिट्टी की उर्वराशक्ति, सींचने के लिए जल की सुविधा तथा नाना प्रकार के जंगली जानवरों के पालन-पोषण इत्यादि सभी बातें कृषि तथा मनुष्य के स्थायी निवास में सहायक हुईं। बहुत सम्भव है, इन सब स्थानों में यदि कृषि-कार्य न आरम्भ होता तो मनुष्य की प्रगति में बहुत विलम्ब होता, क्योंकि इन्हीं स्थानों में अनेक जंगली जानवर प्रथम वश में किये गये और इसी वशीकरण के कारण कृषि की उन्नति हुई। आज भी उन स्थानों में, जहाँ कि मनुष्य हल नहीं चला सका है, उसकी जीवन-यात्रा अनिश्चित है।

रूसी वैज्ञानिकों ने कुछ प्रधान केन्द्रों का निर्देश किया है, जहाँ मनुष्य के खाद्य अनाज इत्यादि का सर्वप्रथम आविष्कार हुआ। उनमें एक अबीसीनिया है, जहाँ गेहूँ, जौ, एवं कई प्रकार की दालों तथा पशुओं के लिए खाद्य घास इत्यादि का आविष्कार हुआ। ऐसा ही एक और प्रान्त हिमालय तथा हिन्दूकुश का मध्यवर्ती भाग है। प्रथम स्थान में जिस कृषि का आविर्भाव हुआ उसने बाद में मिस्र की सभ्यता की भित्ति स्थापित की। दूसरे प्रान्त से उत्पन्न कृषि ने बेबीलान तथा सिन्धुदेशीय सभ्यता का गठन किया। यह सिद्ध हो चुका है कि ईसा से ५००० वर्ष पूर्व मिस्र में गेहूँ उत्पन्न होता था एवं उसके १००० वर्ष बाद मिस्र और बेबीलान कृषि करने से प्राप्त जौ, गेहूँ और ज्वार पर ही निर्भर करते थे। सैन्धव सभ्यता में ३२५०–२७५० ई० पू० गेहूँ तथा जौ का व्यवहार था। जो जौ मोहनजोदड़ो में पाया गया है वह मिस्र की प्राचीन क़ब्रों में पाए हुए जौ के ही समान है। उस समय जो गेहूँ व्यवहृत होता था वह इस समय के पंजाब के गेहूँ की ही जाति का था।

धान्य का आदिम जन्मस्थान, बहुत सम्भव है, एशिया के दक्षिण-पूर्वीय भाग की नदियों की घाटियाँ ही रहा हो, जहाँ प्रति वर्ष बहुत अधिक पानी बरसने के कारण धान्य की उत्पत्ति में काफ़ी सुविधा रही है। ईसा से ३००० से २००० वर्ष पूर्व चीन में धान्य की कृषि का उल्लेख पाया जाता है। भारतवर्ष की वैदिक सभ्यता में भी नाना प्रकार के धान्यों का उल्लेख मिलता है। ईजियन सागर के उत्तर में योरप की आबोहवा तथा मिट्टी कृषि के प्रतिकूल थी। वहाँ वन तथा दलदलों के विस्तार ने भी बहुत समय तक कृषि-कर्म असम्भव कर रखा था। एशिया में कृषि आरम्भ होने के क़रीब दो हज़ार वर्ष बाद योरप में कृषि-कला दो मार्गों से पहुँची—एक उत्तर अफ्रीका से होकर समुद्री रास्ते से तथा दूसरे पश्चिमी योरप एवं डैन्यूब की घाटी से होकर जर्मनी तथा बेल्जियम के मार्ग से। योरपीय कृषि अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। बाल्कन के उत्तर में जंगली गेहूँ तथा ज्वार उपलब्ध नहीं हैं।

किस प्रकार सर्वप्रथम खेती आरम्भ हुई इस बात का निर्णय अधिकांशतः हमारी कल्पना के द्वारा ही किया गया है। तुषार-युग के अन्त में जब दक्षिण-पश्चिमी एशिया का भाग कुछ सूखा होने लगा तथा जंगलों के स्थान पर धूसर प्रान्तर व मरुभूमि दिखाई पड़ने लगी तभी नदी की बालू में, दलदल में, अथवा समुद्र के किनारे अपने आप वन में उत्पन्न होनेवाली नाना प्रकार की घास के बीज इकट्ठे होकर किसी-किसी स्थान पर फैलने लगे, और नदी से बराबर सिंचते रहने के फलस्वरूप उनमें से अपने आप अंकुर फूटने लगे। किसी पेड़ के नीचे या किसी कुटिया के समीप सम्भवतः किसी प्रागैतिहासिक स्त्री ने, जिसका

शिकारी पति कारणवशात् खाद्य-संग्रह करने के लिए घर के बाहर नहीं जा सकता रहा होगा, उन अंकुरों को देखकर कदाचित् सर्वप्रथम कृषि की कल्पना की होगी। बीज फैलने के कुछ समय बाद पानी बरसने अथवा नदी से सिंचने पर शस्य उत्पन्न होता है, इसी ज्ञान से कृषि की उत्पत्ति हुई। बहुत सम्भव है कि स्त्रियों ने ही जंगली घास से बीज संग्रह करके पहले बोये हों ताकि अपने तथा अपने बच्चों के लिए अन्न प्राप्त कर सके। यह जंगली घास ही शस्य की जननी है। जंगली घास से ही दैव-संघटित निर्बाचन के द्वारा क्रमशः अनाज की फसलें होने लगीं। इस फ़सल की रक्षा तथा वृद्धि के हेतु मनुष्य जो प्रयत्न करने लगा उसी का नाम कृषि है।

खेती करने से मनुष्य का मस्तिष्क तथा सामाजिक जीवन बहुत अधिक रूपान्तरित हो गया है। खेती के आरम्भ के साथ-ही साथ मनुष्य ने और भी अनेक चीज़ें निकालीं, जिन सबके संमिलन से मानव सभ्यता सचमुच ही एक नवीन उच्चतर सोपान पर जा पहुँचो। खेती ने मनुष्य को स्थावर बना दिया है। मनुष्य ने भी एक ही स्थान पर रहकर खेती की वृद्धि तथा उन्नति की है। कृषि से सबसे प्रथम लाभ यह हुआ कि मनुष्य प्रकृति की ग़ुलामी से मुक्ति पा गया—वह जीवन-यात्रा में अपेक्षाकृत अधिक स्वाधीन हो गया। शिकारी मनुष्यों का एक साथ कई सौ की संख्या में मिलकर रहना असम्भव होता है। पशुओं के अभाव अथवा उनमें भय-संचार के कारण खाद्य की कमी हो ही जायगी। इसके प्रतिकूल कृषि द्वारा हज़ारों आदमी बिना किसी आशंका के एक साथ निवास कर सकते हैं। घनी आबादी के गाँवों में रहना भोजन जुटाने की दृष्टि से सदा लाभप्रद ही होगा। मानव जाति के इतिहास में खेती आरम्भ होने के साथ-ही-साथ जन-संख्या की भी बड़ी तेज़ी के साथ वृद्धि हुई थी। वस्तुतः खेती, जन-संख्या में वृद्धि तथा नूतन आविष्कार परस्पर एक दूसरे के सहायक हो गये थे। इस जन-संख्या-वृद्धि तथा आविष्कारों की उस युग में एक साथ ही अभूतपूर्व रूप में बाढ़-सी आ गई थी। मनुष्य के इतिहास में उस युग की तुलना का युग फिर न दिखाई दिया।

शिकारी मनुष्य आबादी बढ़ने के कारण उत्पन्न हुई जंगली जानवरों की कमी का कोई प्रतिकार न कर सका। इसलिए वह केवल असम्बद्ध रूप से इधर-उधर मारा-मारा ही नहीं फिरा, वरन् इसके साथ ही उसके मनोभाव तथा सामाजिक जीवन भी इस प्रकार परिवर्त्तित हो गए कि वह अल्पसंख्यक तथा स्थावर बनकर केवल वन्य जन्तु, मछली, फल अथवा कन्दमूल खाकर ही अपनी इस अनिश्चित जीवन-यात्रा को बिताने लगा। शिकारी दल की जन-संख्या आखेट-प्रान्त की वन्य सम्पत्ति के ही द्वारा मुख्यतः नियंत्रित होती थी। खेती आरम्भ होने से आबादी बढ़ने के कारण भोजन-संबंधी भावी संकट का डर जाता रहा। अन्नोत्पादन के निमित्त वन काटकर नई ज़मीन तैयार कर ली गई। उसमें बीज बो देने से ही काम चलने लगा। आबादी बढ़ने से खेत में मेहनत करनेवाले लोगों की संख्या भी बढ़ने लगी। यहाँ तक कि शिकारी जीवन में जो भारस्वरूप थे वे बालक-बालिका भी खेती के किसी-न-किस काम में सहायता करने लगे। फलस्वरूप जो प्रान्त पहले जनशून्य थे वे सब क्रमशः खेती आरम्भ होने से घने आबाद प्रदेशों में परिणत हो गये।

इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं कि ये आदिम किसान, जिन्होंने पहले-पहल बड़ी-बड़ी आबादी के गाँव तथा शहरों में रहना आरम्भ किया, विश्व-शक्ति को उत्पादन एवं वर्द्धन के प्रतीक के रूप में ही पूजते रहे। आदिम कृषक सभ्यता-धरित्री, विश्व-जननी अथवा आद्यशक्ति के उपासक थे। उन लोगों ने उत्पादन के अनेक प्रतीकों की कल्पना कर रखी थी। सिन्धु-सभ्यता में विश्व-जननी के जरायु से एक शाक के उत्पन्न होने की कल्पना की गई है। लिंग तथा योनि-पूजा का प्रथम आविर्भाव भी यहीं हुआ था।

मानव जाति ने जिस समय अपेक्षाकृत निरापद एवं स्वच्छंद जीवन पाकर अत्यधिक प्रजोत्पादन करना और कृषि द्वारा अपना भरण-पोषण करना आरम्भ किया तभी सिन्धु-तट अथवा बेबीलान में मनुष्य का आदिम प्रजनन-कौतूहल नाना प्रकार की अद्भुत योनि-पूजा में अपने आपको अभिव्यक्त करने लगा। इस समय भी हमारे देश में शिव-शक्ति-पूजा अथवा लिंग-योनि के प्रतीक की उपासना उसी प्राचीन प्रथा की साक्षी स्वरूप विद्यमान हैं।

कृषिजनित लोक-संख्या-वृद्धि ने व्यक्ति एवं समाज का रूप ही बदल दिया है। इस बढ़ी हुई जनसंख्या से मनुष्य के समाज-विन्यास में दृढ़ता उत्पन्न हुई। जंगलों को काटने, सींचने, बाँध बाँधने अथवा संचित धन-दौलत की रक्षा के लिए समवेत उद्योग करने से ही राष्ट्र का उदय हुआ। कहीं-कहीं एक स्थान पर घर बनाकर रहनेवाले शान्तिप्रिय तथा मितव्ययी किसान की दुर्दान्त पशुपालक जाति के आक्रमण, अत्याचार एवं शोषण से रक्षा करने के लिए भी राष्ट्र-शक्ति का जन्म हुआ है। कृषि के साथ-ही-साथ समाज-विन्यास में श्रम-विभाग ने भी एक विचित्र रूप धारण किया। पशुपालक समाज में देखा गया है कि पालक, दुहनेवाले,

कातनेवाले इत्यादि सबके सब गोष्ठीपति के अधीन रहकर अपना-अपना काम करते हैं। खेती आरम्भ होने के साथ ही स्त्री एवं पुरुष का खेती के काम में केवल अलग-अलग कर्म ही नहीं बँट गया, वरन् इसके साथ ही जुलाहे, बढ़ई, कुम्हार, खेत में काम करनेवाले मज़दूर तथा गुलाम भी आ उपस्थित हुए। समाज में विविध प्रकार के श्रम तथा श्रेणी-विभाग का आरम्भ सम्यता के इतिहास में सर्वप्रथम कृषक-समाज में ही हुआ।

खेती के काम में जब तक हल का प्रयोग नहीं किया जाता था, अर्थात् हरिण के सींग, किसी वृक्ष की टेढ़ी डाल अथवा कुदाल के किसी भालानुमा प्रागैतिहासिक स्वरूप का ही जब तक हल के रूप में प्रयोग होता था तब तक उसका भार स्त्रियों ने ही ले रक्खा था। बाद में जब हल काम में लाया जाने लगा तथा बैलों ने मनुष्य का श्रम बहुत कम कर दिया तब कृषि-कार्य पुरुषों ने ही अपने हाथों में ले लिया। तभी से सभ्यता के इतिहास में स्त्री-जाति की मर्य्यादा घट गई। आज के इस शिल्प-विप्लव-युग में स्त्री-जाति अपने उस प्रागैतिहासिक सम्मान को प्राप्त नहीं कर पाई है जो उसे प्राचीन सभ्यता में प्राप्त था, जब पुरुष शिकारी था और स्त्री स्वयं अपनी झोपड़ी में अथवा उसके आस-पास रहकर जोतने-बोने, तथा गृहस्थी से सम्बन्धित नाना प्रकार की शिल्प-कलाओं का अभ्यास करती थी। बल्कि कृषि की उन्नति के साथ-ही-साथ पूँजी के सञ्चय तथा वृद्धि के फलस्वरूप जब से एक धनी, अवसरप्रिय, विलासी श्रेणी दिखाई पड़ी तब से स्त्री भी ज़मीन की ही भाँति उपभोग की—क्रय-विक्रय की—सामग्री बन गई। वस्तुतः क्रीतदास-प्रथा तथा स्त्री-जाति का दासत्व ये दोनों ही कृषक सभ्यता के ही विषमय फल हैं।

फिर भी खेती ने मनुष्य को कई दृष्टियों से परिमार्जित तथा संस्कृत किया है। कृषि आरम्भ होने से पूर्व मनुष्य अल्प-संख्यक, इधर-उधर बिखरे हुए तथा प्रकृति के पूर्णरूपेण अधीन थे। प्रकृति की प्रतिकूलता होने पर वे केवल भागकर ही अपनी रक्षा करते थे। कृषि से पहले कई पुरुष एक साथ मिलकर एक ही स्थान पर नहीं रहते थे। कृषि ही ने मनुष्य के हृदय में साहस, नियमपालन, परिणामदर्शिता, तथा अपने ही गृह, परिवार एवं ग्राम के प्रति प्रीति उत्पन्न की।

शिकारी तथा पशुपालक का जगत् एक परिवर्त्तनशील, अनिश्चित जगत् था। इसके विपरीत कृषक के परिवर्त्तनशील जगत् में एक नियम की मर्यादा है। कृषक की कल्पना में प्रकृति निदारुण एवं निष्ठुर नहीं है, वरन् उसी के स्नेहक्रोड़ में वह लालित-पालित होता है। सहिष्णुता, स्थितिशीलता, रक्षणशीलता, तथा परस्पर-सम्बद्ध एक विशाल प्राकृतिक नियम और संगति के प्रति अन्धविश्वास आदि स्वभावतः ही किसान में होते हैं। इसलिए जिस प्रकार कृषक प्राचीन सभ्यता को बचा व सँभालकर रखता है तथा उसको युगपरम्पराक्रम से अपने बाद में आनेवाली पीढ़ियों के लिए छोड़ जाता है उस प्रकार और कोई नहीं कर पाता। कृषक उत्तराधिकारियों के लिए केवल ज़मीन व जायदाद ही नहीं वरन् पारिवारिक नीति, धर्म तथा सामाजिक संस्कृति भी छोड़ जाता है। जो नीति, धर्म तथा संस्कृति कृषक सभ्यता को नियंत्रित करते हैं, उनका केन्द्र गृह तथा परिवार ही होता है। शिकारी मनुष्य को एक स्थायी दृढ़ सम्बद्ध पारिवारिक जीवन के विकास का सुयोग नहीं मिला। विचरणशील तथा जननशील पशुसमूह के बीच में रहकर पशुपालक जातियाँ प्रायः बहुविवाहकारी हो गईं तथा धन को भी उन्होंने स्त्रियों की संख्या के ही मापक-यंत्र से नापा। वस्तुतः मनुष्य का पारिवारिक जीवन सर्वप्रथम कृषक समाज में ही दृढ़ हुआ है। कृषिकर्म में समय आने पर खेत में काफ़ी अधिक परिश्रम करना आवश्यक हो जाता है। उस समय आबाल-वृद्ध-वनिता सब मिलकर यदि परिश्रम न करें तो यथोचित फ़सल नहीं हो सकती। इसी सहयोगिता से एकान्तवासी परिवार में ऐक्य, विवाह में स्वामी और स्त्री का अटूट सम्बन्ध, पूर्व-पुरुषों के लिए श्रद्धाञ्जलि-अर्पण व उत्तराधिकारियों के लिए धन-दौलत, ज़मीन-जायदाद इत्यादि छोड़ जाने के अनुल्लंघनीय उत्तरदायित्व का भाव आता है। कृषि के उदय-काल में ही घर के भीतर गृहदेवता तथा सेवनीय प्रज्वलित होमकुण्ड का आविर्भाव हुआ। उत्तर भारत में मुख्य देवता गृहदेवता हुए, जिनके निकट नित्य संध्या समय कृषक-वधू दीपक जलाकर लाती है एवं पहली फ़सल तथा पहले-पहल का दूध अर्पण करती है। इसी प्रकार खेत की फ़सल तथा पशुओं के रक्षक क्षेत्रपाल हुए। उनकी कृपा के बिना पकी-पकाई फ़सल नष्ट हो सकती अथवा कोई भयंकर बीमारी फैल सकती है, जो गाँव-गाँव में ढेर-के-ढेर पशुओं का विध्वंस कर दे सकती है। किसानों की संस्कृति की सीढ़ी के हिसाब से ही कहीं की देवता रक्षा या काली है तो कहीं की मंगलचण्डी। शरद्-ऋतु में जब पके हुए धान की हरी-भरी सुन्दरता किसान का मनोरंजन करती है एवं चारों ओर अलसी का सुंदर खिला हुआ फूल ही दिखलाई पड़ता है तब आसन्न समृद्धि की आशा तथा प्रतीक्षा में गाँव-गाँव में रक्षा व पालनकर्त्री हरितवर्णा महादेवी की उपासना होती है।

अमावस्या के निविड़ अन्धकार में जब प्रकृति पृथ्वी को एक निगूढ़ रहस्य-जाल में आवृत्त कर लेती है तब किसान उसी पालन करनेवाली देवी की आराधना महाकाली की मूर्ति के द्वारा करता है, जो जन्म-मृत्यु एवं सृष्टि-प्रलय के नियमों के रूप में सारे विश्व में नृत्य कर रही है। श्रावण मास की संध्या के समय नीली विद्युत्‌युक्त घटाएँ जब किसान के हृदय में एक नया उत्साह व आनन्द भर देती हैं, तथा बिजली की चमक व मेघों के गर्जन से कृषक-वधू जब कुछ व्याकुल तथा उन्मन-सी होने लगती है, तब गाँव-गाँव में झूलन का उत्सव शुरू हो जाता है। सबके ही स्मृतिपट पर तब एक बार फिर यमुना-तट पर प्रस्फुटित कदम्ब वृक्ष के नीचे कृष्ण एवं गोपियों के नित्य अभिसार तथा मिलन का चित्र अंकित हो जाता है। फिर जब वसन्त-काल में अशोक और पलाश-पुष्प के नव किशलय की रक्तिम आभा से खेत-वन प्रज्वलित हो उठते हैं एवं वर्षा तक विपुल परिश्रम करने के पश्चात् कुछ समय के लिए शान्ति-एवं विनोद प्राप्त करने के हेतु किसान अवकाश ग्रहण करता है तब झूला-उत्सव में सभी मतवाले-से हो उठते हैं। खेत-मैदान में, नदी तथा पुष्करिणी के तटों पर प्रतिदिन, प्रतिमास पर्वों पर कृषक अनेकों देवताओं की उपासना करता है। धरती माता, गंगा माता, सिद्धिदाता, मङ्गल-चण्डी इत्यादि प्रत्येक ही कृषक के कल्याण-साधक हैं। एक ही प्रथा, एक ही उत्सव, एक ही पूजा के अनुष्ठान का वर्णन समाज की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लोगों की शिक्षा तथा संस्कृति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। समाज की विभिन्न श्रेणियाँ प्रत्येक उत्सव की वैचित्र्य-पूर्ण प्रतीकोपासना के द्वारा भिन्न-भिन्न भावों की सूचना देती हैं। परन्तु इस उत्सव या पर्व के प्राणस्वरूप कृषक ही हैं। आकाश में चंद्र, सूर्य, ग्रह तथा तारामण्डल के नियमानुगत परिवर्त्तन के साथ-ही-साथ ऋतुचक्र में भी परि-वर्त्तन उपस्थित होने से किसानों के नाना प्रकार की पूजा के अनुष्ठान एवं उत्सव प्रति वर्ष उसी नियम से बदल-बदल कर आते-जाते हैं तथा इस अनन्त काल-प्रवाह के साथ कृषि की शक्ति एवं उद्देश्य का एक निविड़ अक्षुण्ण सम्बन्ध स्पष्ट कर देते हैं। ऋतु-परिवर्त्तन के ही अनुसार खेती का काम भी बदलता रहता है। कर्म व फल का एक चक्र समाप्त होते ही फिर नवीन चक्र आरम्भ हो जाता है। यह चक्र-परिवर्त्तन अनादि अनन्त है।

इसलिए कृषक एक लोकातीत नियम की सुषमा व संगति का विश्वासी हो जाता है, जिसे कभी वह अदृष्ट कहता है, कभी ईश्वर की न्यायानुवर्तिता कहता है, और कभी अनादि सत्य-धर्म के नाम से अभिहित करता है। किसान यद्यपि बहु-देवोपासक है, यद्यपि वह अनेक शक्तियों की सेवा करता है, तथापि उन सभी शक्तियों एवं देवताओं को वह एक विश्वोत्तर नियम के अन्तर्भूत कर देता है। उसी नियम का उसने नैतिक व्याख्यान कर्मवाद के रूप में किया है जिसका प्रभाव व्यक्ति-गत एवं सामाजिक जीवन पर कुछ कम नहीं पड़ा है।

किसान समझता है कि वृक्ष-लता तथा जीव-जन्तु एवं मनुष्य सब एक ही सूत्र में पिरोये हुये हैं। पेड़-पौधों तथा फ़सलों की नीरव कालचक्रानुयायी क्रमाभिव्यक्ति के ही समान मनुष्य भी अनन्त-काल से जीवन-परिवर्त्तन करता हुआ पूर्णता की ओर चलता रहा है। जन्मान्तरवाद के साथ कर्म-वाद का अकाट्य सम्बन्ध है। जन्मान्तरवादी के निकट अदृष्ट कोई अन्ध प्राकृतिक शक्ति नहीं वरन् जन्म-परिवर्त्तन के सम्बन्ध में पाप तथा पुण्य कर्मों का विचार मनुष्य के हृदय में, दुर्भाग्य के समय, एक प्रकार का धैर्य लाता है तथा सौभाग्य के समय क्षमा एवं शान्ति लाता है। सभी समय पाप तथा पुण्य में व्यक्ति अपने कर्त्तव्य के अपरिहार्य दायित्व का अनुभव करता है। इसी प्रकार सामाजिक जीवन में अदृष्टवाद प्रत्येक सामाजिक श्रेणी में सहिष्णुता तथा अक्षुब्धता लाता है। श्रेणीद्वन्द्व तथा प्रतियोगिता के स्थान में, अदृष्टवाद के प्रभाव के फल-स्वरूप, सामाजिक शान्ति तथा सहयोगिता का दर्शन होता है।

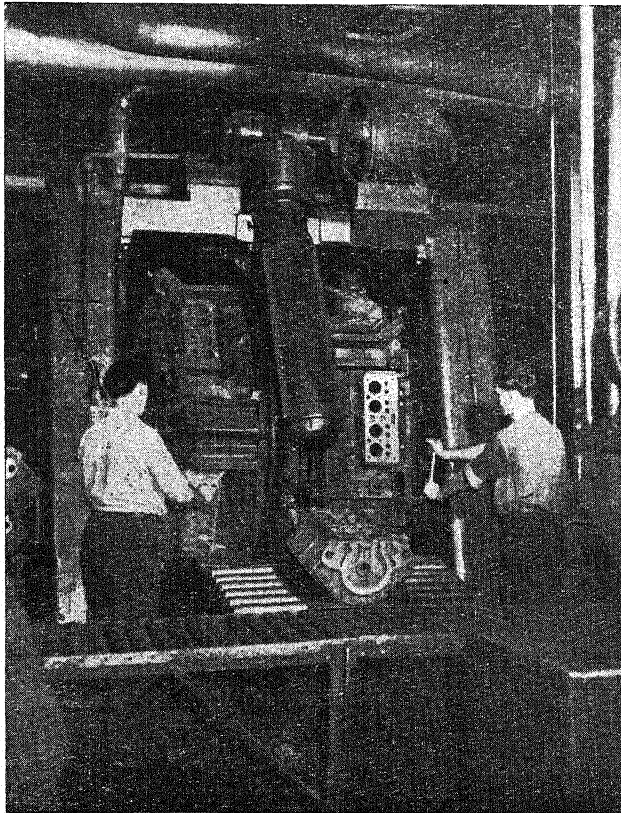
तभी तो यह विश्वास करके कि विश्व को धारण करने-वाला ईश्वरादेश नहीं वरन् एक तुरीय, विश्वातीत सङ्गति एवं सुषमा है—किसान ने एकेश्वरवाद को एक नवीन महिमा प्रदान की है। उसके समीप परमेश्वर भी स्वतंत्र नहीं। मानव सभ्यता के इतिहास में अनेकेश्वरवाद की ज्वलन्त श्रद्धा और भक्ति व अनवच्छिन्न आनन्द एवं एकेश्वरवाद का निगूढ़ अपरोक्ष ज्ञान जिस प्रकार कृषक का दान है वैसे ही मालूम पड़ता है उसका और भी अधिक मोहनीय दान व्यक्तिगत तथा समाजगत नीति के क्षेत्र में है। अलंघनीय एवं सनातन नियम के पक्षपाती किसान ने अपने इस अपरोक्ष नियम का अनुभव केवल विश्व के महत् व अणुपरमाणु में ही किया है, जड़ एवं चेतन में नहीं। इसी नियम ने व्यष्टि और समष्टि, जड़ और चेतन, जन्म और कर्म, पाप और पुण्य, वर्तमान और अतीत को एवं प्राकृतिक और नैतिक जीवन को एक सूत्र में पिरो-कर एक सुन्दर, सुषमामय समग्रता प्रदान की है। मानव सभ्यता के इतिहास में किसान का यह सर्वश्रेष्ठ दान है।



धरती पर विजय—(६) मोटरगाड़ियों का विकास

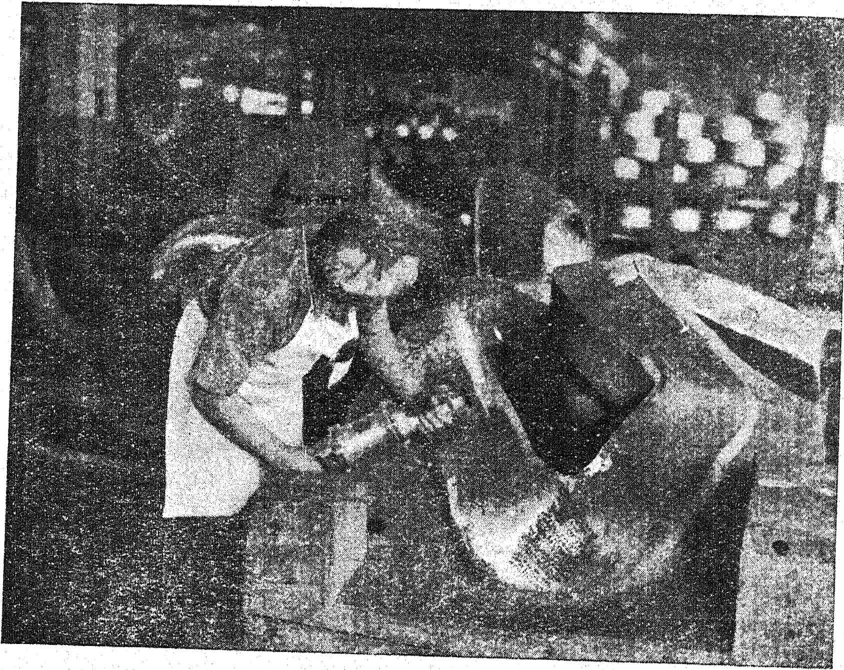
पिछले लेख में आपने पेट्रोल-इंजिन की उत्पत्ति और उसकी सहायता से सड़कों पर बिना रेल की पटरी के दौड़ सकनेवाली मोटरगाड़ियों के विकास की कहानी सुनी। प्रस्तुत लेख उसी का उत्तरार्द्ध है। संक्षेप में यहाँ यह बताया गया है कि आज दिन मोटरों की माँग बेहद बढ़ जाने से किस प्रकार कारख़ानों में वे धड़ाधड़ हज़ारों-लाखों की संख्या में प्रति वर्ष तैयार होने लगी हैं।

हम पिछले लेख में देख चुके हैं कि जब मोटरकार के रूप में एक निहायत कमख़र्च, सुडौल, और तेज़ चालवाला वाहन दुनिया को मिल गया तो एकबारगी ही उसकी माँग की बाज़ार में मानों बाढ़ आ गई और फलस्वरूप पचीसों फैक्टरियाँ महज़ मोटरें बनाने के लिए ही खुल गईं। इन्हीं फैक्टरियों ने कालान्तर में विशाल कारख़ानों का रूप ले लिया, जिनमें हज़ारों की संख्या में प्रति वर्ष तरह-तरह के डिज़ाइन की मोटरें तैयार होने लगीं। क्या आप सोच सकते हैं कि आज दिन ऐसे कारख़ाने किस गति और परिमाण में मोटरों का उत्पादन करते हैं? आपको यह जानकर अचरज होगा कि अमेरिका के फोर्ड के मोटर के कारख़ाने में, जो संसार का इस वाहन के उत्पादन का सबसे बड़ा कारख़ाना है, प्रति दिन कई मोटर की औसत के हिसाब से उत्पादन होता है! निस्संदेह यह तभी संभव हो सकता है जब मोटर के प्रत्येक छोटे-से-छोटे पुर्जे के निर्माण के लिए भी अलग-अलग विभाग हों और उन सब विभागों में साथ-ही-साथ काम चलता रहे। इसके अलावा कारख़ाने के कुछ विभागों में महज़ विभिन्न पुर्जों को जोड़कर पूरी गाड़ी तैयार करने का ही काम होता हो, कुछ में रँगाई-पोताई ही चलती रहे, कुछ में मोटर के गद्दे-तकिए वग़ैरह ही सिले जाते रहें, कुछ में उसके इंजिन की जाँच ही होती रहे, और इन सभी कार्यों की ऐसी शृंखला बँधी रहे कि प्रत्येक विभाग से एक ही जैसे हज़ारों पुर्ज़े प्रति दिन तैयार होते रहें। वस्तुतः यही हो रहा है।



फोर्ड के मोटर के कारख़ाने के एक विभाग में मोटर-इंजिन के सिलिंडर का निर्माण किया जा रहा है।

[फ़ोटो—'फोर्ड मोटर कंपनी ऑफ़ इंडिया लि॰' के सौजन्य से]



मोटर की बॉडी का निर्माण करनेवाले एक साँचे को खरादकर उपयुक्त आकार दिया जा रहा है।
[फ़ोटो—'फ़ोर्ड मोटर कं० ऑफ़ इंडिया लि०' के सौजन्य से]

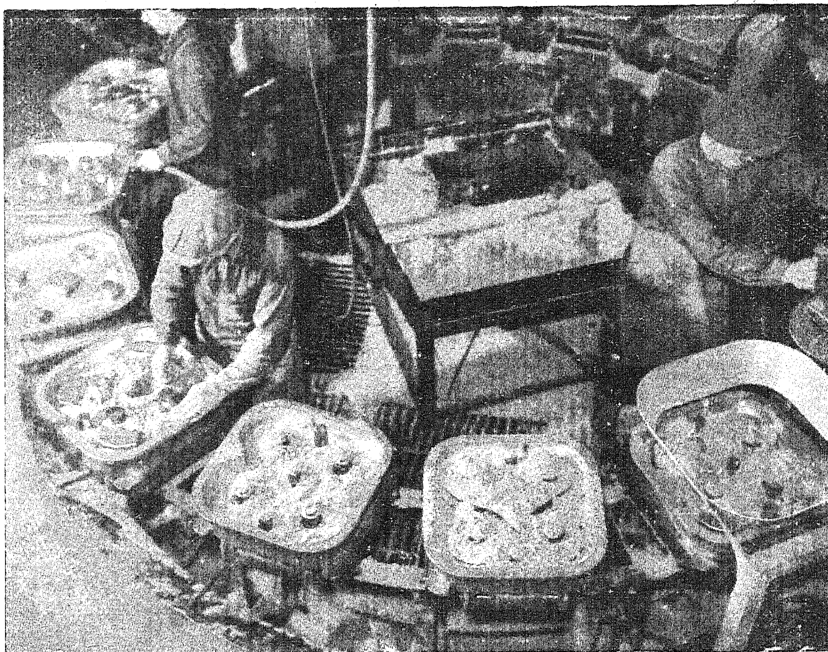
इस सिलसिले में अमेरिका के धनकुबेर हेनरी फोर्ड का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सर्वसाधारण के काम लायक़ सस्ती और पायदार मोटर-गाड़ियाँ तैयार करने का श्रेय हेनरी फोर्ड को ही प्राप्त है। आज फोर्ड-मोटरें और लारियाँ संसार के सभी देशों में पायी जाती हैं।

मोटर फ़ैक्टरियों में अत्यन्त ही सुचारु और सुसंगठित ढंग पर मोटर के कल-पुर्ज़ों का निर्माण होता है। मोटर-गाड़ी के तैयार करने में कुल २० हज़ार से ऊपर पुर्ज़ों की आवश्यकता पड़ती है। एक बड़े दालान में विचित्र ढंग की क्रेन तथा पेटीदार मशीनों के ज़रिये हर एक पुर्ज़े बनकर ठीक समय पर उपयुक्त स्थान पर पहुँच जाते हैं ताकि मोटर की बॉडी में यथास्थान वे फ़िट कर दिये जायँ। मिस्त्री चुपचाप अपनी जगह पर खड़ा रहता है और पुर्ज़े स्वयं उसके सामने एक-एक करके पहुँचते रहते हैं। वह केवल दो-एक बाल्टू कस दिया करता है या स्क्रू घुमा देता है। कार का मुख्य ढाँचा या चेसिस पहले ड्रिलिंग रूम में जाता है, जहाँ जितने सूराख़ की ज़रूरत होती है, ठीक उतने ही सूराख़ उस ढाँचे में मशीन द्वारा बना दिये जाते हैं। तदुपरान्त वह आगे बढ़ता है और एक बड़े कमरे में इंजिन, धुरी आदि अंग मशीन द्वारा उसमें फिट कर दिए जाते हैं।

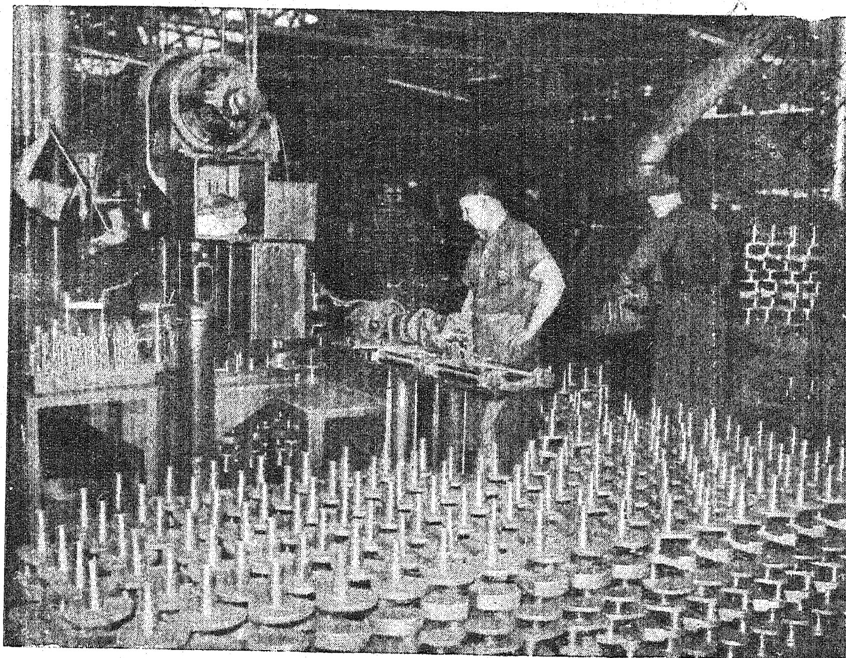
इस कमरे में भेजे जाने के पहले स्टोर-रूम में ही इन पुर्ज़ों की जाँच विशेषज्ञों द्वारा भली भाँति कर ली जाती है। अब पहियों की बारी आती है। हवा से भरे टायर पहियों पर चढ़ाये जाते हैं। फिर इन पहियों को मशीनों की मदद से चेसिस की धुरी पर चढ़ाते हैं। चेसिस के तैयार हो जाने के बाद क्रेन द्वारा बॉडी को लाकर ठीक चेसिस के ऊपर रख देते हैं।

मोटर की बॉडी का भी आद्योपांत निर्माण फ़ैक्टरी के अन्दर ही होता है। बढ़िया क़िस्म के सागौन के लट्ठों के ठीक साइज़ के टुकड़े काटकर बॉडी में यथास्थान फ़िट कर देते हैं। अब तो कारख़ानों में अनेक मशीनें इस तरह की बन गई हैं जो फ़ौलाद की चद्दरों को एक ही बार में मरोड़ कर बॉडी की शक्ल में बदल देती हैं। एकदम ऐसी नपी-तुली साइज़ की बॉडी तैयार हो जाती है कि उसके आकार में एक सूत का भी अन्तर नहीं पड़ने पाता।

बॉडी पर कम-से-कम दस बार भिन्न वार्निशों से पालिश की जाती है। तदुपरान्त झालरें, गद्दे, खिड़कियों के शीशे आदि सजावट की चीज़ें, जो अपने-अपने गोदाम से तैयार होकर आती हैं, मशीनों द्वारा ही बॉडी में फ़िट कर दी जाती हैं। चेसिस पर बॉडी के फ़िट हो जाने के बाद गाड़ी में गियर बाक्स, नम्बर-प्लेट, स्क्रीन, ब्रुश और हार्न आदि लगाये जाते हैं। सर्वांगपूर्ण हो जाने के बाद यह गाड़ी विशेषज्ञ के पास जाती है। विशेषज्ञ इसके प्रत्येक अंग की भली भाँति जाँच करता है। उदाहरणार्थ वह देखता है कि पथरीली ज़मीन पर बहुत जल्द मोटर का टायर घिस तो नहीं जाता। विशेषज्ञ द्वारा फ़िट करार दिये जाने पर मोटर-कार पर आख़िरी बार पालिश चढ़ाई जाती है और तब उसे शोरूम में ला खड़ा करते हैं।

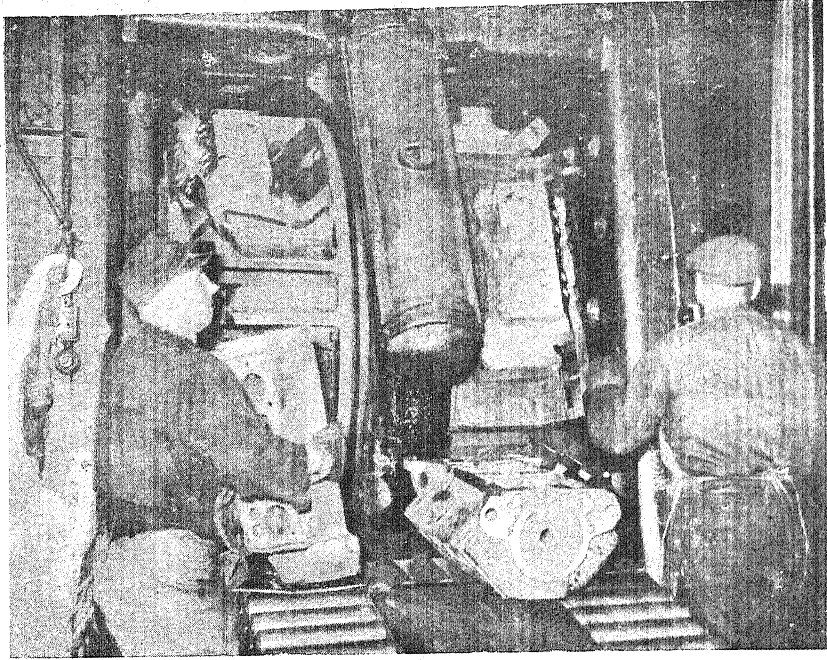


मोटर-इंजिन का क्रैंक-शैफ़्ट नामक पुर्ज़ा ढाला जा रहा है।

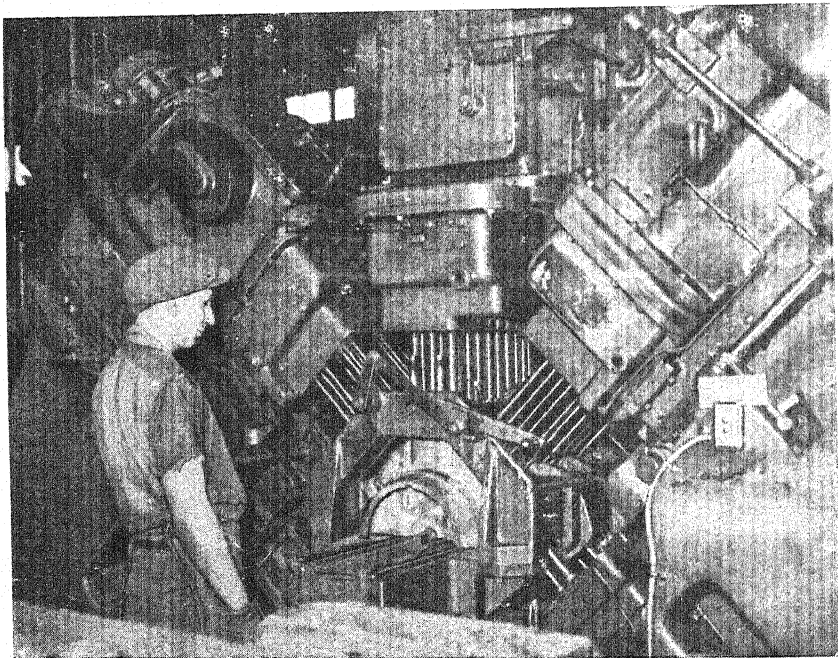


ऊपर के चित्र में ढाले गए क्रैंक-शैफ़्ट नामक पुर्ज़े को समतुलित बनाया जा रहा है। नीचे ज़मीन पर यही पुर्ज़ा सैकड़ों की तादाद में रक्खा है।

[फ़ोटो—'फ़ोर्ड मोटर कंपनी ऑफ़ इंडिया लि०' के सौजन्य से]

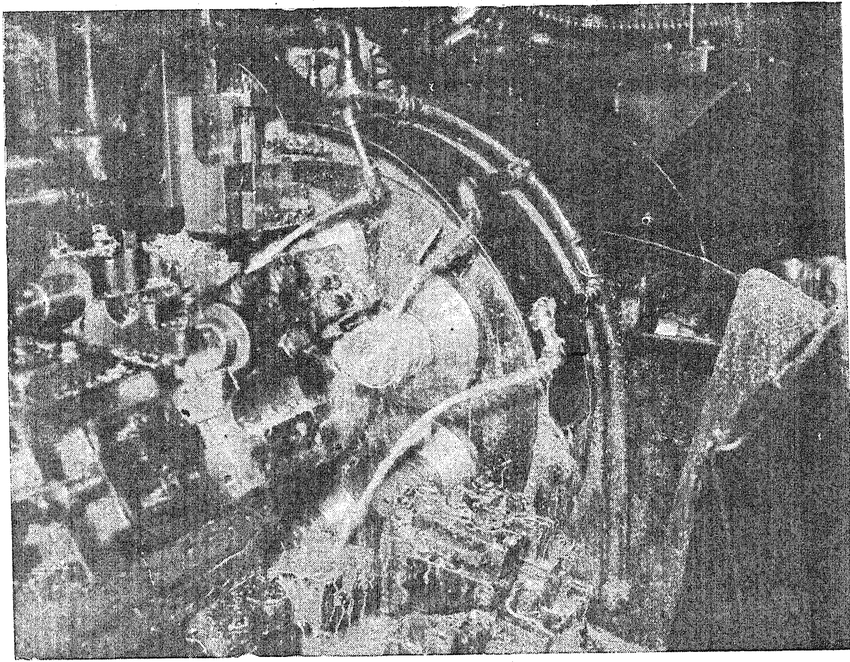


सिलिंडर की सतह खरादकर चिकनी बनाई जा रही है।

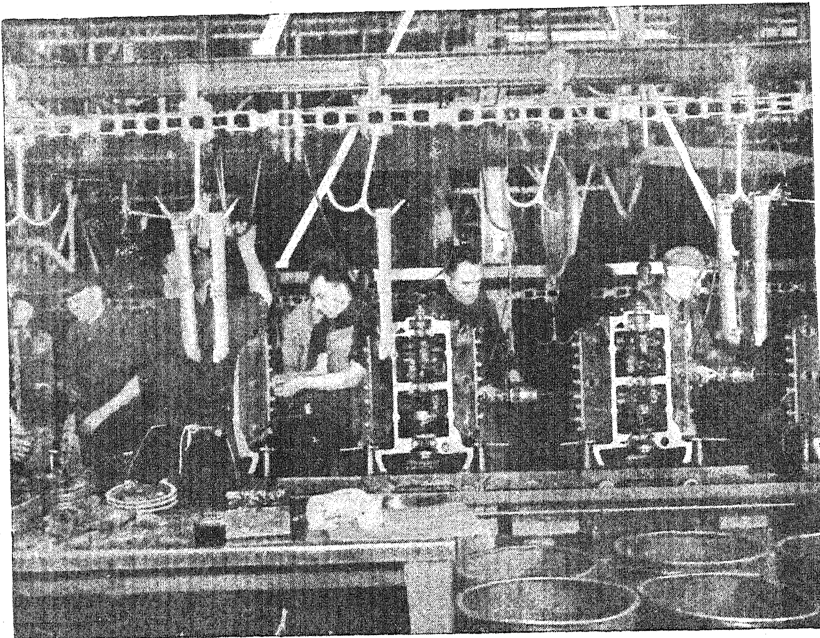


एक ही बार में सिलिंडर के ढाँचे में तमाम आवश्यक छेद किए जा रहे हैं।

[फ़ोटो—'फोर्ड मोटर कंपनी ऑफ़ इंडिया लि०' के सौजन्य से]

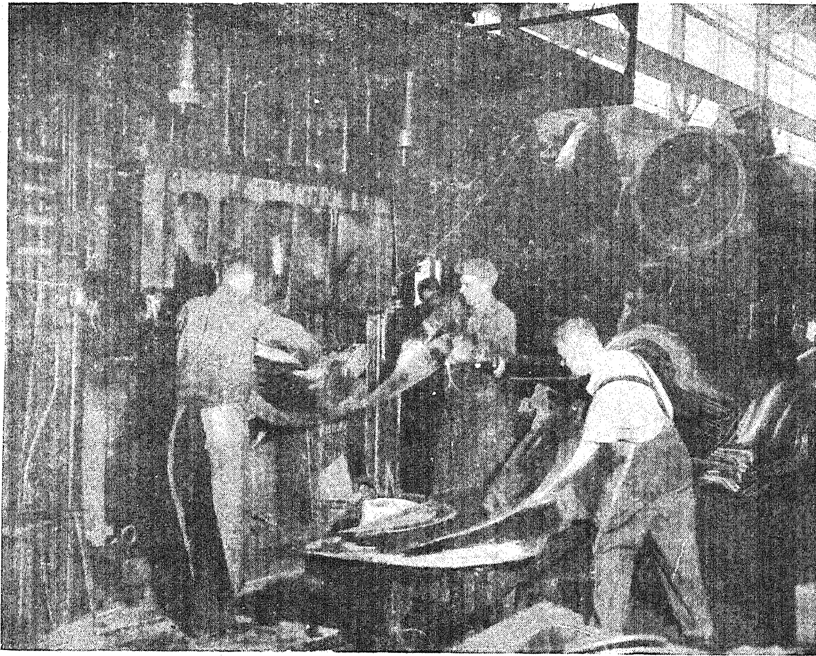


मोटर-इंजिन के पिस्टनों पर पालिश किया जा रहा है।

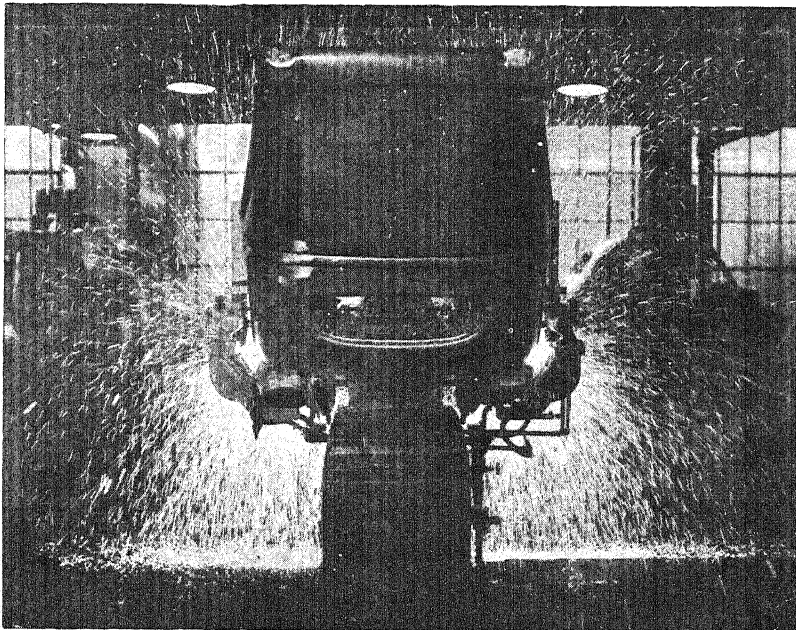


मोटर-इंजिन के अलग-अलग पुर्ज़ों को जोड़कर पूरा इंजिन तैयार किया जा रहा है।

[फ़ोटो—'फ़ोर्ड मोटर कंपनी ऑफ़ इंडिया लि०' के सौजन्य से प्राप्त]



मोटरकार की बॉडी में पहियों के ढकाव के लिए लगाई जानेवाली चादरों को मशीन में दबाकर उपयुक्त आकार दिया जा रहा है।



मोटरगाड़ी की फ़ौलाद से बनाई गई 'बॉडी' या ऊपरी ढाँचे की बिजली के द्वारा वेल्डिंग (Welding) की जा रही है, अर्थात् संध मिलायी जा रही है।

[फ़ो०—'फोर्ड मोटर कंपनी ऑफ़ इंडिया लि०' के सौजन्य से]

इन कारख़ानों में हर तरह के काम के लिए मोटर-गाड़ियाँ तैयार की जाती हैं। लम्बी यात्रा में रातदिन चलनेवाली मोटर-बस में यात्रियों के आराम और सुविधा का विशेष ध्यान रक्खा जाता है। ऐसी मोटर-बस दो तल्ले की होती है, जिनमें निचले तल्ले में सामान रखने की जगह तथा सोने के लिए बर्थ बनी रहती है।

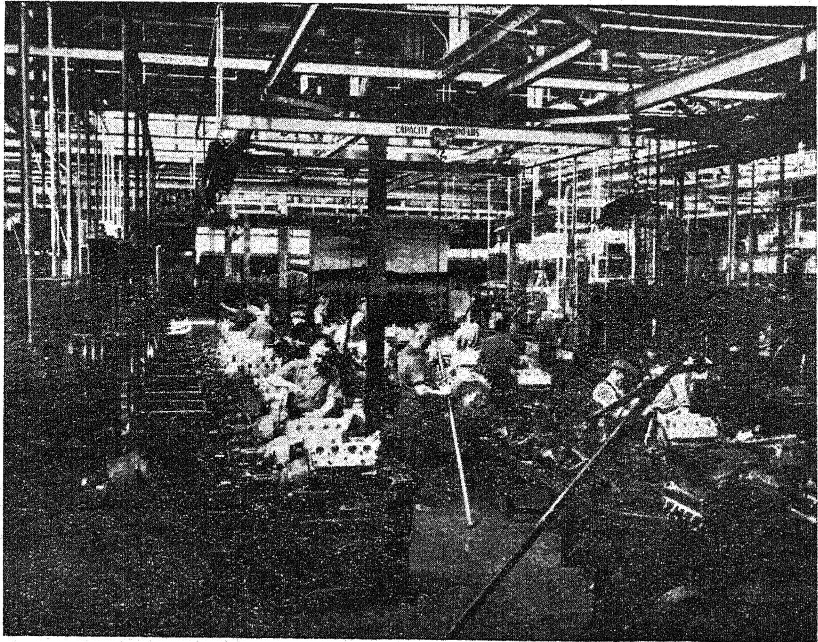
पिछले पहिये की धुरी के पास आवाज़ जज़्ब कर लेनेवाला यंत्र लगा रहता है, जो गाड़ी के अन्दर व्यर्थ का शोर-गुल नहीं पहुँचने देता। बस की दीवालें भी दुहरी होती है, अतः बाहर का शोर भीतर घुसने नहीं पाता। साथ ही एयर-कन्डिशनिङ्ग की सहायता से मोटर-बस के भीतर इच्छानुसार जैसा चाहें वैसा तापमान बनाये रख सकते हैं। ऊपर के तल्ले में बैठने के लिए गद्देदार कुर्सियाँ लगी रहती हैं—रात के समय इन्हें भी हटाकर वहाँ सोने के लिए बेञ्चें लगा सकते हैं। रीफ़्रीजिरेटर और रेडियो भी बस के अन्दर मौजूद रहते हैं। बस के यात्री रेडियो द्वारा संसार के हर कोने का समाचार प्राप्त कर सकते हैं। हज़ारों मील की दूरी पर होनेवाले संगीत का भी वे भरपूर आनन्द उठा सकते हैं। सहारा-जैसे रेगिस्तान के निर्जन प्रान्तों में इसी ढंग की बसें नियमित रूप से सवारी ढोने का काम करती हैं और हज़ारों मील लम्बे बालू के मैदान को ये आसानी से पार कर जाती हैं।

युद्ध के मैदान में भी मोटरों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। पेट्रोल-इंजिन द्वारा परिचालित, मशीनगन और तोपों से सुसज्जित, टैङ्क नामक युद्ध-यान एक दानव की तरह झाड़-झंखाड़, दलदल, बालू, टीला सब-कुछ को लाँघते हुए ३०-३५ मील प्रति घण्टे की रफ़्तार से आगे बढ़ सकते हैं। कुछ टैङ्क तो इतने शक्तिशाली होते हैं कि वे दीवालों को भी तोड़कर अपने लिए रास्ता बना लेते हैं! अमेरिका में ऐसे टैङ्क भी बन गए हैं जो स्थल और जल दोनों पर आसानी से चल सकते हैं। ये सब एक प्रकार की मोटरगाड़ियाँ ही हैं।

बर्फ़ीले प्रान्तों में चलनेवाली स्लेज गाड़ियों में भी पेट्रोल-इंजिन फ़िट किये गये हैं। इन गाड़ियों में इंजिन का सम्बन्ध किसी पहिये से नहीं होता, क्योंकि स्लेज में पहिये होते ही नहीं। इंजिन अपने सामने एक प्रोपेलर को ख़ूब तेज़ी के साथ घुमाता है। प्रोपेलर के पंख जब हवा को काटते हैं तो स्लेज भी बर्फ़ पर फिसलती हुई आगे को बढ़ती है। मोटर-स्लेज की रफ़्तार अक्सर १५ मील प्रति घण्टे तक पहुँच जाती है।

मोटरों के निर्माण में प्रतिदिन नई-नई बातों का समावेश किया जा रहा है। बॉडी को आरामदेह बनाने का प्रयत्न निरंतर जारी है। इंजिन की शक्ति बढ़ाने के प्रश्न को हल करने में भी लोग किसी क़द्र पीछे नहीं हैं। दौड़-प्रतियोगिता का रेकार्ड तोड़ने के लिए नित नए ढंग की मोटरें तैयार की जाती हैं। रेसवाली मोटरकार की बॉडी में कोना कहीं पर भी नहीं रखते। बॉडी को पूर्णतया स्ट्रीम-लाइन्ड कर देते हैं ताकि तीव्रगति से भागती हुई मोटरकार पर हवा की अवरोधक शक्ति का प्रभाव बहुत ही कम पड़े।

केम्ब्रिज में १९३८ में एक रेसिंग कार पूरे ६ वर्ष के



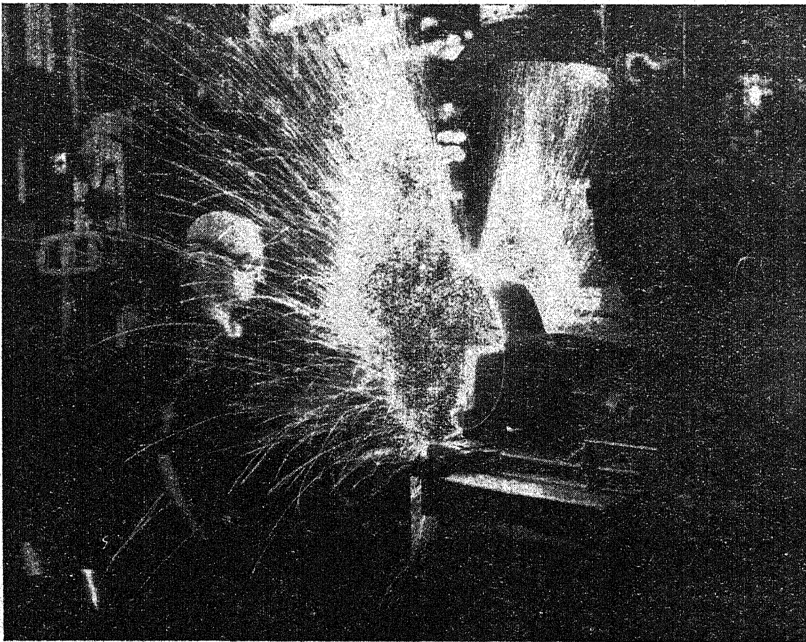
फोर्ड मोटर के विशाल कारख़ाने में तैयार किए गए मोटर-इंजिनों को चला-चलाकर विशेषज्ञ पक्की जाँच कर रहे हैं ताकि उनमें कोई तरह की शिकायत बाक़ी न रहे।
[फ़ोटो—'फोर्ड मोटर कंपनी ऑफ़ इंडिया लि०, के सौजन्य से]

अनुसन्धान के उपरान्त तैयार की गई। इस कार में न तो क्लच थे न गियर ही। इसकी शक्ल भी एक विशालकाय अण्डे की तरह बनाई गई थी ताकि कितनी ही तेज़ रफ़्तार से कार क्यों न जा रही हो, हवा इसे छूकर चुपचाप एक ओर को फिसल जाय। इस विचित्र कार की रफ़्तार ३५० मील प्रति घण्टा तक जा पहुँची।

किन्तु दौड़ में भाग लेनेवाले साहसी वीर इससे भी अधिक शक्तिवाले इंजिन बनाने के प्रयत्न में लगे हुए हैं। हम जानते हैं कि जिस समय बन्दूक़ से गोली छूटती है, बन्दूक़ को एकाएक पीछे धक्का पहुँचता है। बड़ी-बड़ी तोपों से जिस वक़्त गोले दागे जाते हैं, ये तोपें पीछे को हट जाती हैं। आतिशबाज़ी की चर्ख़ी भी इसी सिद्धान्त पर बनती हैं। बारूद जब ज़ोरों के साथ बाहर को निकलती है तो चर्ख़ी धक्का खाकर उलटी दिशा में घूमने लगती है। राकेट-कार के इंजिन में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। इस कार के पिछले भाग में ऐसा इंजिन लगा रहता है, जिसमें सैकड़ों ऐसी नलियाँ रहती हैं जिनका मुँह पीछे की ओर रहता है। प्रत्येक नली के अन्दर बारूद भरी रहती है। एक-एक सेकण्ड के अन्तर पर प्रत्येक नली की बारूद विद्युत् की चिनगारी द्वारा विस्फोट कराई जाती है। इस प्रकार रास्ते भर राकेट-कार को आगे बढ़ने के लिए शक्ति मिलती रहती है। बारूद के स्थान पर राकेट-कार में द्रव ऑक्सीजन का भी सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा चुका है।

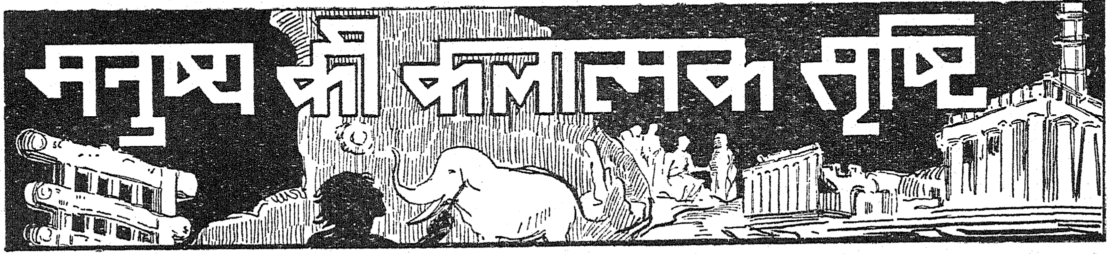
राकेट इंजिनवाले स्लेज की रफ़्तार भी ३०० मील प्रति घंटे तक पहुँच चुकी है। राकेट-कार अभी अपने प्रयोगात्मक काल में से ही होकर गुज़र रही है, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसका भविष्य उज्ज्वल है।

गति के प्रश्न की तरह ईंधन का प्रश्न हल करने में भी वज्ञानिक जी-जान से जुटे हुए हैं। यह सभी जानते हैं कि संसार में मिट्टी के तेल या पेट्रोल जैसे खनिज तेल का कोई ऐसा भंडार नहीं है जो कि कभी चुके ही नहीं। वास्तव में, वर्त्तमान युद्धों में जब से पेट्रोल का प्रयोग अधिकाधिक बढ़ने लगा है तब से मोटरवालों के माथे में भी बल पड़ने लगा है। उन्हें चिंता होने लगी है कि यदि पेट्रोल के ख़र्च का यही ढर्रा रहा तो आख़िर पेट्रोल से चलनेवाले इन सभी वाहनों की उस दिन क्या गति होगी जब खनिज तेल दुर्लभ हो जायगा। इसी समस्या को लेकर अभी से मोटरों में दूसरे-दूसरे ईंधनों को काम में लाने की योजनाएँ होने लगी हैं। कुछ मोटरें ऐसी निकली हैं, जिनमें पेट्रोल के बजाय 'क्रूड आयल' ही जलाया जाता है, तो कुछ में कोयले की गैस का ही इस्तेमाल होने लगा है। अचरज नहीं यदि एक दिन पेट्रोल के बजाय कोई दूसरा ही नवीन ईंधन संसार की सभी मोटरों में काम में लाया जाने लगे।



बिजली द्वारा मोटर के पहियों की वेल्डिङ्ग की जा रही है
[फ़ोटो—'फ़ोर्ड मोटर कंपनी ऑफ़ इंडिया लि॰' के सौजन्य से]

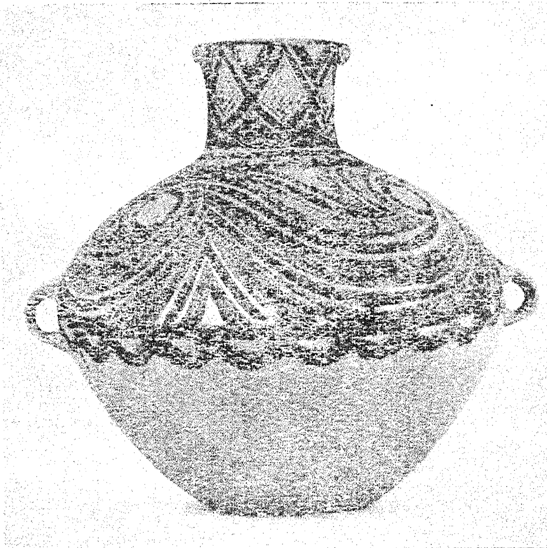
जो कुछ भी हो मोटरों के विकास की श्रेणी अभी समाप्त नहीं हुई है। उसे नई-नई परिस्थितियों के अनुकूल बना लेने के प्रयत्न लगातार जारी है। कह नहीं सकते कि उसका अंतिम रूप क्या होगा।



चीन की कला

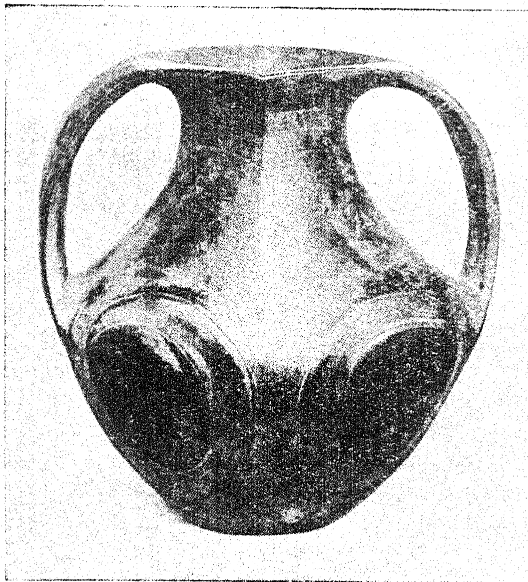
प्रागैतिहासिक युग से आरंभ कर क्रमशः हमने मिस्र, बेबीलान, असीरिया, क्रीट, ग्रीस और रोम की प्राचीन कला का दिग्दर्शन पिछले लेखों में किया। हम एकबारगी ही पश्चिमाभिमुख हो गए और रोम में आकर तो तीसरी-चौथी शताब्दी ईस्वी को भी पार कर गए। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि इस बीच पूर्व के चीन, भारत, तिब्बत आदि देशों में कला-सम्बन्धी कोई उल्लेखनीय प्रयास हुआ ही न था। वस्तुतः, चीन या भारत की कला का इतिहास भी ईसा से कई शताब्दी पहले आरंभ होता है। किन्तु पूर्व की यह कला-धारा पाश्चात्य कला के प्रवाह से कई बातों में एकदम ही विभिन्न दिशा की ओर बहती है। इसीलिए पश्चिम के धारा-प्रवाह में पूर्व का विवेचन करना उचित नहीं समझा गया। अब चूँकि हम पश्चिम से लगभग निपट चुके अतएव पूर्व की ओर निश्चिन्त होकर अभिमुख हो सकते हैं। प्रस्तुत और आगामी कई लेखों में अब आपको पूर्व की ही कला का इतिहास सुनने को मिलेगा। आइए, सबसे पहले चीन ही को लें।

प्राचीन रोम की तड़क-भड़क से अपनी नज़र हटाकर अब हम चीन की गौरव-गरिमा पर निक्षेप करते हैं—'रोमन ईगल' की सजग आँखों से रक्षित सुविस्तृत साम्राज्य-भूमि से अब हम बढ़ रहे हैं बहुत दूर 'देव-पुत्रों से अधिष्ठित गंभीर गर्जन-कारी प्रचंड ड्रेगन की विशाल एवं स्वर्गीय राज्य-भूमि' की ओर! चूँकि अब हम पूर्व की ओर अभिमुख हो रहे हैं, अतएव हमें कला-सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण तथा विचारों में भी उचित परिवर्त्तन कर लेना होगा, जो अब तक केवल दृश्य अथवा बुद्धिगम्य वस्तुओं में ही डूबे हुए थे। यद्यपि यह सच है कि ग्रीस और रोम की निकृष्टतम कलाकृतियों में भी आदर्शीकरण की एक पुट सदैव विद्यमान पाई जाती है; परन्तु यह आदर्श-चित्रण वास्तव में दृश्य वस्तु की त्रुटियों को दूर कर एवं उसकी रोचक विशेषताओं को कहीं ज़्यादा तूल देकर केवल उसे अधिक महिमामय बना देने का प्रयत्नमात्र था—उसमें प्रकृति को एक विशेष सौन्दर्यानुभूति अथवा आध्यात्मिक प्रेरणा के अनुरूप रूपांतरित करने का कोई प्रयास नहीं किया गया था। ग्रीक कला के सिद्धान्तों में यह व्यवस्था दे दी गई थी कि समस्त कला अनुकरण मात्र है; और इसी व्यवस्थानुसार कलाकार प्रकृति के सम्मुख मानों दर्पण रख उसे, जहाँ तक मनुष्य के लिए संभव हो सकता है, प्रतिबिम्बित करने का प्रयास करते थे। मानवीय शरीर के अंगों की गठन का वे बड़ी बारीकी के साथ अध्ययन करते और प्रकृति के ही आधार पर अपनी कला का निर्माण करते थे। यदि कोई अतिमानवीय चित्रण अभीष्ट



प्राक्-हान युग की चीनी कला का एक नमूना
यह पात्र काले और किरमिज़ी रंग की भँवरनुमा आकृतियों से अलंकृत है (समय लगभग २००० ई० पू०)।

होता तो ग्रीस का कलाकार जो कुछ कर सकता था वह यही कि सामान्य आकृतियों की अपेक्षा वह इस बार कहीं अधिक दक्षतापूर्वक और पूर्णतम आकार-प्रकार की योजना करता। उसे यह कभी भान भी न हो पाया कि कलात्मक अभिव्यक्ति के और अन्य प्रकार भी हो सकते हैं, जो बाह्य निरीक्षण तथा अनुकरण पर उतने निर्भर नहीं होते जितने आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि एवं एक मनोवैज्ञानिक संयोजना पर! उसके लिए तो यह पर्याप्त था कि एक पूर्ण निर्दोष आकृति पूर्ण निर्दोष रीति से अङ्कित हो जाय। इसीलिए ग्रीसवालों ने अपने कला-निर्माण में कभी कोई ऐसी बात लाने की चेष्टा न की जो साधारणतः इंद्रियगोचर न हो अथवा बुद्धि द्वारा जिसका विश्लेषण या नाप-जोख न हो सके। इसके विपरीत पूर्वीय कलाकार के लिए जैसा आँखों को दिखाई देता है वैसा प्रकृति का चित्रण कोई मूल्य नहीं रखता। बाह्य रूप-रेखा के भीतर गहरा घुसकर वह उस तत्त्व को बाहर ले आना चाहता है जिसे वह सार-रूप अथवा उस वस्तु की सबसे बड़ी विशेषता समझता है—वस्तु के उस सच्चे रूप को, जिसकी कि उसने सर्वगम्य बाहरी भौतिक दृष्टि की अपेक्षा अपनी अन्तर्भूत उत्कृष्ट साधना के पश्चात् अनुभूति की है। वह अपनी आत्म-शक्ति द्वारा आध्यात्मिक चरम सत्य के यथार्थ रूप का साक्षात्कार करने की चेष्टा करता है और अंकित की जानेवाली कला-वस्तु की आत्मा में मानों अपनी आत्मा को डुबा देना चाहता है। इस प्रकार रचना-वस्तु की भावनाओं तथा वृत्तियों के अनुरूप ही वह अपनी भी भावनाओं का तारतम्य जोड़ने का प्रयास करता है। उसके लिए बाह्य आकृति का कोरा अनुकरण अथवा चित्र पर प्रकाश एवं छाया का खेल दिखाने की अपेक्षा विषय के भावों एवं चित्तवृत्तियों को ग्रहण करना अधिक महत्वपूर्ण है।



२०००-३००० ई० पू० की चीनी कला का एक और नमूना
इस पात्र की सुंदर रचना पर ध्यान दीजिए।

कहते हैं कि वेनिस का महान् साहसिक यात्री 'मार्को पोलो' अपने समकालीन सुप्रसिद्ध इटैलियन चित्रकारों के कुछ चित्र कुबलाई ख़ाँ के दरबार में अपने साथ ले गया था। कुबलाई ख़ाँ ने उन्हें ग़ौर से देख अपने आश्रित चित्रकारों को बुलाकर उन चित्रों पर उनकी सम्मतियाँ माँगी। अधिकांश चित्रकारों ने तो एक विवेकपूर्ण मौन धारण कर लिया, किन्तु उनमें से सबसे बूढ़ा बोल उठा, "जनाब, ये वे चित्र नहीं हैं जिन्हें हम चित्र कहते हैं, बल्कि ये तो 'दिवाल के झरोखे' कहकर सम्बोधित किए जा सकते हैं। इसका मतलब यह था कि जो भी चित्र दिखाए गए थे वे महज़ यथार्थ वस्तुओं के प्रत्याङ्कन मात्र थे—उनमें न तो चित्रित विषय के भाव की ही कोई झलक मिलती थी न उनका निर्माण करनेवाले चित्रकार के ही भावों या वृत्तियों की। कलाकार की आत्मा का प्रकृति की आत्मा के साथ यह एकीकरण, मानव चेतना का ईश्वरीय चेतना के साथ यह तादात्म्य, तथा उसी के फलस्वरूप अनावश्यक तत्त्वों को विलग कर इंद्रियजनित अनुभूति को एक नवीन रूप देने का प्रयत्न ही पूर्वीय कला को पाश्चात्य कला से भिन्न कर देता है। 'पूर्व पूर्व ही है और पश्चिम पश्चिम, तथा इन दोनों का मिलाप कभी भी न होगा', इस कहावत की सार्थकता केवल यहीं दृष्टिगोचर होती है। जिन लोगों को पूर्वीय कला में बाह्याकृति के यथार्थ या हूबहू चित्रण का अभाव बुरी तरह खटकता है, वे इस तथ्य को भूल जाते हैं कि पूर्वीय एवं पश्चिमीय कलाकारों के दृष्टिकोण एक-से नहीं हैं। पूर्वीय कलाकारों ने यदि यथार्थ चित्रण की उपेक्षा की तो इसलिए नहीं कि वे यथार्थ का चित्रण कर ही नहीं सकते थे, बल्कि इसलिए कि उनके आदर्श और विचार ही भिन्न थे। इस बात पर कोई भी विश्वास नहीं कर सकता कि जिन लोगों ने उस पुरातन काल ही में, जबकि सभ्यता की आलोक-रश्मियाँ योरप में पहुँच भी न पाई थीं, जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का उज्ज्वल परिचय दिया था, वे केवल इस एक ही विषय में असफल रहे हों कि प्रकृति का स्थूल फ़ोटो-

जैसा चित्रण वे न कर सके हों ! बात यह नहीं थी कि वे इस तरह का चित्राङ्कण कर ही नहीं सकते थे, बल्कि यह कि इन्होंने कभी ऐसा करना ही न चाहा। आज के 'अभिव्यंजनावाद' 'छायावाद', 'संकेतवाद' अथवा 'प्रभाववाद' आदि जब शब्दों की सीमा में बँध भी न पाए थे उससे बहुत पहले ही पूर्वीय कलाकारों ने यह भली-भाँति समझ लिया था कि इंद्रियाँ जिसकी अनुभूति करती हैं वह इतना महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जितना कि वह जिसकी कि अनुभूति हृदय द्वारा होती है। हृदय की भावनाओं का संवेदन ही वास्तव में कलाकार के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है बनिस्बत इंद्रियों के द्वार में से छनकर ग्रहण किए गए प्रभाव के !

कला के प्रति चीन का दृष्टिकोण 'हशिये-हो' के छः सिद्धान्तों में स्पष्टतया प्रकट कर दिया गया है; और उन सिद्धान्तों का कुछ विस्तारपूर्वक अध्ययन एकदम निरर्थक न होगा। यह कुछ विचित्र-सी बात है कि 'हशिये-हो' के इन सिद्धान्तों में से कुछ भारतीय चित्रकला के उन छः सिद्धान्तों से बहुत मिलते-जुलते हुए हैं जो वात्स्यायन के कामसूत्र पर यशोधर की टिप्पणी में उल्लिखित हैं (अध्याय ३ भाग १)।

'हशिये-हो' द्वारा प्रतिपादित चीनी कला के छः नियम निम्न प्रकार हैं—

(१) एक लययुक्त प्राण-शक्ति एवं एक निजी जीवन-गति।
(२) विविध प्रकार के रेखाङ्कण में तूलिका की साधना।
(३) रेखांकित रूप और यथार्थ वस्तुओं के साथ उसका सादृश्य।
(४) विविध वस्तुओं के अनुरूप रंगों का चयन।
(५) रचना एवं उपयुक्त वर्गीकरण।
(६) प्राचीन महान् कलाकारों की परंपरा का अनुसरण।

इन्हीं की जोड़ के भारतीय कला के छः सिद्धान्त, जो षड़ङ्ग अथवा भारतीय कला के छः अङ्ग के नाम से जाने जाते हैं, निम्न श्लोक में व्यक्त है—

'रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभंगं इति चित्रं षड़ंगकम् ॥'

अर्थात् (१) प्रकृति में देखी जानेवाली वस्तुओं की बाह्याकृति और कलाकार द्वारा चित्रित आकृतियों का रूप-भेद।

(२) नाप या प्रमाण।

(३) रसों अथवा भावों का चित्रण।

(४) प्रकृति की न्यूनता या अभाव की पूर्ति के हेतु चित्रण में विशेष लावण्य का समावेश।

(५) सादृश्य—विशेषकर प्रसिद्ध कवियों या नाटककारों द्वारा प्रतिष्ठापित स्थायी संकेतों के अनुरूप चित्रण।

(६) रँगने की उपयुक्त शैली।

भारतीय एवं चीनी कला के विविध अंगों की गहरी चीर फाड़ विशेषकर इस समय अनुपयुक्त होगी। परन्तु यह तो हमें समझ ही लेना चाहिए कि चीनी कला के प्रथम सिद्धान्त का वास्तविक अर्थ क्या है। क्योंकि निश्चय ही यही छः सिद्धान्तों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है—शेष पाँच तो केवल कला के 'टेकनीक' से संबंध रखते हैं। कुछ अनुवादकों ने प्रथम सिद्धान्त का अर्थ 'जीवन-गति की अंतरात्मा का संचरण' बताया है, दूसरों ने उसका अर्थ 'लययुक्त प्राण-शक्ति अथवा जीवन में अभिव्यक्त लययुक्त आध्यात्मिक गति' के माने में किया है और कुछ अन्य 'वस्तुओं में निहित लययुक्त गति के माध्यम द्वारा आत्म-तत्त्व की जीवन-गति की अभिव्यंजना' कहकर उसे अभिहित करते हैं।

"एक विशेष प्रकार की गति, लययुक्त जीवनी-शक्ति, और आध्यात्मिकता पर जो यह ज़ोर दिया गया है, उसमें और अभी हाल में चित्रपट (canvas) में जीवन-गति, आकार-सम्बन्धी अभिव्यञ्जना और आत्मा की मूकवाणी के रूप में एक अमूर्त तत्त्व के होने की जो बात कही और लिखी जाने लगी है, उसमें बड़ी ही समानता है। किंतु प्रौढ़ विचारवालों के दृष्टिबिन्दु से जो बात सबसे अधिक मार्के की है, वह है चित्र में जीवन का एक भाव होने पर ज़ोर दिया जाना। कला-सम्बन्धी विचारधारा में हमें दो बृहत् समूहों में विभिन्न प्रकार के दो उद्देश्यों की धाराएँ प्रवाहित होती दिखाई देती है। एक में केवल अपने आस-पास के जीवन का प्रतिबिम्ब उतारने की प्रवृत्ति है तो दूसरे में एक बिलकुल नई वस्तु के सृजन की, जिसमें अपनी ही एक निजी चेतना हो।

"चीनी कलाकार प्राकृतिक दृश्यों के प्रतिबिम्बमात्र के चित्रण अथवा अनुकरण को गौण मानते हैं। उनके मतानुसार तो कला का मुख्य लक्ष्य दृश्यों को प्रतिबिम्बित मात्र कर देने की अपेक्षा कलाकृति को जीवन के कुछ विशिष्ट गुणों से अभिभूत कर देना है—उसे एक गति, एक प्रेरणा और संवेदना की एक शक्ति से युक्त कर देना है। अन्यथा वे पूछते हैं कि 'सृजन' के फिर मानी ही क्या हैं ?

"दूसरे शब्दों में कलाकार भाव के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर उस महातंत्री की लय के साथ एकतान हो जाता है जिससे समूची चेतन सृष्टि का निर्माण होता है।

सृष्टि के अन्तराल में से वह मानों संजीवनी प्राणवायु खींचकर लाता और उससे अपनी भौतिक कला-रचना को अनुप्राणित कर देता है।

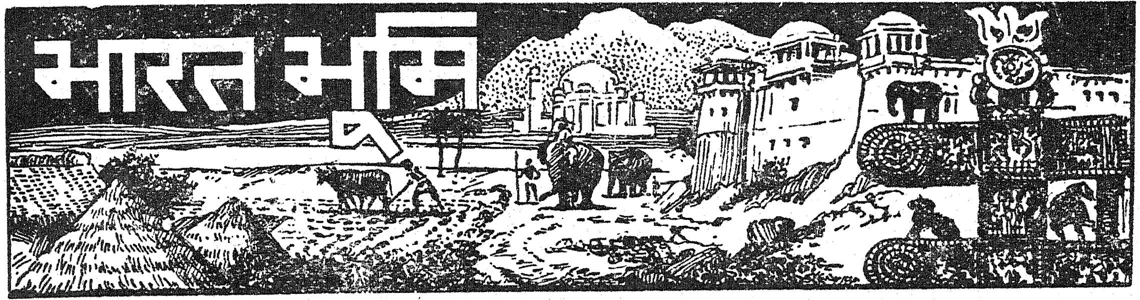
"और जब उस भाव की प्राप्ति हमें हो जाती है तो हमें ऐसा अनुभव होने लगता है मानों हम जीवन के—न केवल अपने ही जीवन के बल्कि विश्व के जीवन के—निकट संपर्क में आ गए हों"—(लारेन्स बिनयन कृत 'फ्लाइट ऑफ़ दी ड्रैगन' से)।

इस प्रकार 'हुशिए-हो' सौन्दर्य-क्षेत्र के उस छोर से बिल्कुल ही विपरीत दिशा से आरंभ करता है जो अरस्तू तथा बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक के अन्य प्राचीन रूढ़िग्रस्त पाश्चात्य सिद्धान्तवादियों के लिए सबसे महत्वपूर्ण रहा है। उसके लिए यह ग्रीक सिद्धान्त समझना कठिन होता कि 'कला अनुकरण मात्र है' तथा कलाकार को इसी का अनुसरण करना चाहिए।

चित्रों में एक लययुक्त जीवनी शक्ति के होने का यह विचार संभवतः चीनी मस्तिष्क में इस कारण भी दृढ़ रूप से जम चुका था कि चीनी कलाकार एक विशेष प्रकार के माध्यम का ही अपने चित्रों में अनिवार्य रूप से प्रयोग करते थे। चीनी चित्र वास्तव में तरल जल-मिश्रित रंगों द्वारा तूलिका से अंकित चित्रों के सिवा और कुछ नहीं हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त रंगों की तरलता ने तूलिका के स्वाभाविक लोच के साथ मिलकर चित्र में एक गतियुक्त चेतनता का गुण लाने की धारणा को और भी दृढ़ कर दिया था। इसके विपरीत तैल-मिश्रित रंगों अथवा दूसरे किसी भी माध्यम द्वारा चित्रकारी करने की विधि मूलतः इस लोच और गतिशीलता के भाव से एकदम प्रतिकूल पड़ती है। तैल-मिश्रित रंग स्वभावतः ही चिकट होता है और उसके द्वारा चित्रकारी करने की विधि बहुत अधिक परिश्रम माँगती है। तैल द्वारा कोई भी कलाकार कभी भी वैसी लहरदार मधुर भाव से युक्त चित्रकारी नहीं कर सकता जो कि चीनी या जापानी उत्कृष्ट चित्रों में लक्षित होती है। जल-मिश्रित रंग तैलीय रंगों से कहीं अधिक सूक्ष्मतर, तरलतर और भावसूचक होते हैं; और चीनी चित्रकला की सारी शक्ति ही भावों के निदर्शन में है न कि तथ्य-वस्तु के यथार्थ प्रत्याङ्कण या अभिलेखन में। चीनी चित्र चूँकि अधिकांश में रेशमी पट पर ही बनाए जाते हैं अतएव उनमें बाद में किसी भी प्रकार के सुधार के लिए गुंजाइश नहीं रहती। वे या तो पूर्ण रूप से सफल चित्र होंगे या फिर एकदम ही असफल। चित्रकार अपना चित्र अंकित करने के पहले चाहे हज़ारों तरह से निर्धारित विषय का अभ्यास कर ले किंतु जहाँ चित्र को अंतिम रूप में अंकित करने का समय आया वहाँ एकदम एक ही धारा-प्रवाह में बिना किसी तरह के सुधार-बिगाड़ या संशोधन के उसे अपनी कृति को समाप्त कर देना होगा। उसकी यह कृति एक विशुद्ध आनन्द एवं प्रयास-हीन धारा-प्रवाह की ही उपज होनी चाहिए। बजाय इसके कि उसकी यह कलाकृति एक लंबी कालावधि के कठोर परिश्रम का परिणाम हो, वह ऐसी होनी चाहिए मानो चित्रकार की अन्तरात्मा में उदित आध्यात्मिक मनोभाव का ही साररूप प्रतिबिम्ब विस्तृत होकर उसकी आत्मा से सीधे रेशमी पट पर अंकित हो गया हो। एक सुप्रसिद्ध चीनी चित्रकार के विषय में यह कथा प्रसिद्ध है कि इसके पूर्व कि उसने अपने आपको चित्रण-कला का अधिकारी समझा, वह अपनी खिड़की के काग़ज़ी परदे पर चन्द्रमा की रोशनी से बाँस की पत्तियों की गिरती झिलमिल छाया के चित्रण में ही चौदह वर्ष तक लगा रहा। यह आध्यात्मिक तैयारी, निरंतर मनन और चिंतन द्वारा सत्य के अंतिम स्वरूप को छानने का यह कठोर प्रयास, पश्चिम में शायद ही कहीं पाया जा सकता है—यह केवल पूर्व की ही अपनी विशेषता है।

'सरसों का बगीचा' (Mustard Seed Garden) नामक चित्रकला पर लिखे गए एक चीनी प्रबन्ध में चीनी चित्रकार किस प्रकार चित्रकारी किया करते थे, इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है—"कलाकार वस्तु का सूक्ष्म निरीक्षण करता है और अपने मस्तिष्क में उस निरीक्षण का फल संचित रखता है। वह एक रूप की कल्पना करता है और उस मनोवांछित विषय की कल्पना को अपने मस्तिष्क में साकार रूप देने के पश्चात् वह उसे बड़ी फुर्त्ती के साथ सधी हुई तूलिका से रेशमी पट पर उतार लेता है। तूलिका की इस प्रकार की सबल चेतनायुक्त अनुपम साधना द्वारा इस कला से जिस व्यक्तिगत एवं अभूतपूर्व भाव का संदेश प्रेरित किया जाता है वह दर्शक की निगाह में एकदम ही बहुत ऊँचा जँच जाता है।" उसी प्रबन्ध में यह भी कथन है कि "जहाँ कलाकार की तूलिका का स्पर्श न भी हुआ हो वहाँ भी उसके विचार की छाप तो रहती ही है।"

"सांकेतिकता के मूल्य पर दिया जानेवाला यह ज़ोर—यह मौन भाव-प्रदर्शन", चीनी कला के सुप्रसिद्ध विशेषज्ञ बिनयन के अनुसार, "विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है, क्योंकि किसी भी अन्य कला ने, चीनी कला की तरह, शून्य को भी चित्र में विशेष अर्थयुक्त बनाने की ख़ूबी को नहीं समझा है।



करवाल

उत्तरी भारत की एक ख़ानाबदोश और जरायम-पेशा जाति

हिन्दुस्तान में जितनी ख़ानाबदोश और जरायमपेशा जातियाँ हैं उतनी सम्भवतः और कहीं नहीं हैं। ऐसी जातिवालों की संख्या हिन्दुस्तान में दस लाख से ऊपर है। ये भारतवर्ष भर में फैली हुई हैं और यद्यपि इनमें से अधिकांश कई स्थानों में स्थायी रूप से बस गई हैं, तो भी एक तादाद ऐसी जातियों की भी है जो परिवारों के समूह बनाकर जीविका की खोज में घूमती रहती हैं और जब ईमानदारी से जीविकोपार्जन नहीं होता तो छोटी-छोटी चोरियाँ तथा ऐसे गम्भीर अपराध भी करती हैं जिनमें कभी-कभी हिंसा का भी प्रयोग करते वे नहीं चूकतीं।

ऐसी जातियों में से अधिकांश, जिनकी ख़ानाबदोशी की आदतें अब भी मौजूद हैं, औरतों, बच्चों और अपने छोटे-छोटे सामान को लिये हुए एक गाँव से दूसरे गाँव तथा एक ज़िले से दूसरे ज़िले में घूमती रहती हैं और प्रायः वे ऐसे केन्द्रों में जाने के लिए, जहाँ उन्हें व्यापार या अन्य कार्य में अधिक सफलता की आशा हो, लम्बी-लम्बी दूरियाँ तय करते हुए देखी जाती हैं।

इन ख़ानाबदोशों और जरायमपेशा जातियों से गाँव के शान्तिप्रिय कृषकों तथा नगर-केन्द्रों के लिए निरन्तर बढ़ते हुए ख़तरे के कारण इन जातियों को खेती के कारबार में लगाने या उनके लिए जीविका के अन्य कोई साधन जुटाने के लिए सरकार को भिन्न प्रकार की कार्रवाइयाँ करनी पड़ी हैं। और यद्यपि मोघिया, बेड़िया तथा बौरी सरीखी जातियों ने व्यवस्थित जीवन ग्रहण कर लिया है फिर भी बहुत-सी ऐसी भी जातियाँ हैं जिन्हें व्यवस्थित जीवन की बात अथवा किसी ख़ास पेशे को जीविकोपार्जन का साधन बना लेने की बात ज़रा भी पसन्द नहीं है और उनके चरित्र पर संस्कार से ही पड़ी हुई घुमक्कड़ जीवन की छाया उन्हें एक जगह से दूसरी जगह घूमते-फिरते रहने के लिए निरंतर प्रेरित करती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुलीसवालों की एहतियाती कार्र-वाइयों और उनकी कड़ी निगरानी से इन जातियों की अपराध की प्रवृत्तियों का काफ़ी शमन हुआ है। फिर भी जब-तब वे पुलिस को चकमा देने में सफल हो जाती हैं और सीधे-सादे लोगों को अपनी कुचेष्टाओं का शिकार बना लेती हैं।



एक करवाल युवक (फ़ोटो—लेखक द्वारा)

सम्भव है कि ये ख़ानाबदोश और जरायमपेशा जातियाँ शुरू-शुरू में किसी एक नस्ल की ही रही हों, किन्तु आज वे कई नस्लों के मिश्रण-सी जान पड़ती हैं। भाँतू, साँसिया और करवाल लोग कमोबेश एक-से

देख पड़ते हैं और यद्यपि वे मुण्डा, सन्थाल तथा उत्तरी भारत की वैसी ही प्राक्द्रावीड़ नस्ल की अन्य जातियों से मिश्रित हो गयी हैं फिर भी अपनी शारीरिक रूप-रेखा में उन्होंने कुछ ऐसी विशेषताएँ क़ायम रखी हैं जिनसे वे आसानी से पहचान ली जा सकती हैं कि वे औरों से भिन्न हैं। नटों और कंजड़ों में ऐसे व्यक्ति पाये जाते हैं जिनकी शारीरिक बनावट आस्ट्रेलिया की आदिम जातियों जैसी होती है। उनका रंग साँवला, नाक चपटी, ओठ मोटा, माथा पीछे की ओर धँसा हुआ तथा ठुड्डी छोटी होती है, किन्तु साफ़ रंग, नुकीली नाक, ऊँचा माथा और लम्बे शारीरिक बनावट के पुरुष भी आम तौर से उनमें पाये जाते हैं। बहेलिए लोग नटों से सुन्दर देख पड़ते हैं, किन्तु नटों की स्त्रियाँ सामान्यतया सुन्दर होती हैं, जिसकी वजह से नटों को अपनी लड़कियों के व्यभिचार द्वारा जीविकोपार्जन करना सुगम हो जाता है। बहेलिया एक वीर जाति है और साधारणतः इनमें ऐसे पक्के शिकारी निकलते हैं जो कि शिकार की टोह लगाने और शिकार खेलनेवालों के लिए रास्ता दिखाने का काम करते हैं। युरोपियन और भारतीय शिकारियों ने एक मत से बहेलिया जाति को एक बढ़िया खिलाड़ी, वीर, साहसी और मिलनसार जाति माना है।



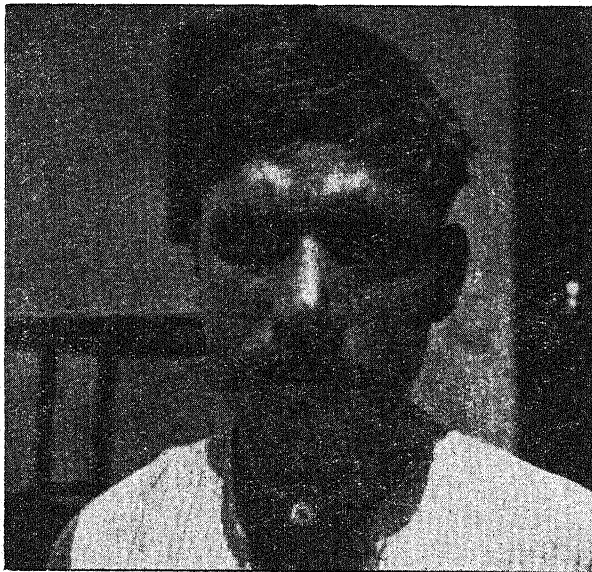
करवाल बालकों का एक समूह (फ़ोटो—लेखक द्वारा)

सभी ख़ानाबदोश जातियाँ भारतीय समाज में बदनाम नहीं हैं। क्योंकि बाँसफोर या बाँसोर सरीखी ऐसी बहुत-सी जातियाँ भी पायी जाती हैं जो बाँस की चीज़ें तैयार करती हैं, टोकरियाँ और चटाइयाँ तथा इसी तरह की और चीज़ें बनाती हैं और भंगियों का काम करती हैं। वे ईमानदारी की ज़िन्दगी बिताती हैं और वे लोग जिनके यहाँ वे काम करती हैं उन्हें क़तई संदेह की दृष्टि से नहीं देखते। चिड़ियामार बहेलिया लोगों का निकटतम सम्बन्धी होता है। देहात के बाज़ारों अथवा शहरों में उसे देखकर लोग प्रसन्न होते हैं। वह चिड़ियों को जाल में फँसाकर अथवा निशाना मारकर लाता है और लोगों को बेच देता है। डोम लोग भंगी का काम करते हैं, चूहे वग़ैरह भी खा जाते, जल्लाद का पेशा करते, टोकरी बनाते, और अन्य नीच काम करते हैं। वे पेशेवर सेंध मारनेवाले होते हैं। वे अधिकतर भारत की आदिम जातियों के निम्नवर्ग के लोग हैं और इसीलिए इस देश पर आक्रमण करनेवाले भारतीय आर्यों ने इन जातियों को नीच और हीन पेशे अख़्तियार करने के लिए मजबूर कर दिया था। आधुनिक भारत के आर्थिक ढाँचे में अनेक दृष्टियों से डोम अपने को अनुपयुक्त पाते हैं। डोम का पेशा ऐसा होता है कि उसके कारण उसे अपने साथ-साथ गदहे रखने पड़ते हैं और उसका दर्जा उन गदहों से बेहतर नहीं समझा जाता। "कंजड़ उसका कुत्ता चुरा ले जाता है, गूजर उसके मकान को लूट लेता है, किन्तु हज्जाम मुफ़्त में ही उसकी हजामत बना देता है" इस कहावत में औसत दर्जे के डोम का बड़ा ही उपयुक्त वर्णन है। हिमालय के इस ओर के प्रदेश में डोम लोग क्रीतदास (Serf) का काम करते हैं। आज भी उनका काम मानों दूसरों के लिए "जंगल से लकड़ी काटकर लाना और कुएँ से पानी खींचकर लाना' ही है। उन्हें कोली या कोल्टा कहते हैं और वे चौबीसों घंटे पिसते रहने और हमेशा के लिए दास बने रहने के लिए बाध्य हैं।

नट एक दिलचस्प ख़ानाबदोश जाति है। इसके रस्सी पर चढ़कर नाचने के खेलों से गाँवों और क़स्बों के लोगों का मनोरञ्जन होता है। जहाँ पर ये लोग डेरा डालते हैं वहाँ वे या तो रस्सी पर नाचनेवालों अथवा नर्तकों के रूप में सामने आते हैं अथवा दाँत या पुरानी बीमारियों के वैद्य तथा गाँव के नामर्द हो जानेवाले लोगों में फिर से मर्दानगी लानेवाली दुष्प्राप्य औषधियों के विक्रेता के रूप में बाहर निकलते हैं। उनकी दवाइयाँ जड़ी-बूटियों की होती हैं जिनका वे एक अनुभवी दुकानदार के ढंग पर आकर्षक प्रदर्शन करते हैं। वे दलाल रखते हैं, जो कि गाँववालों

में उनकी दवा का बखान करते हैं। ये लोग भाग्य चमकानेवाले तावीज़ भी बेचते हैं। इनमें से कुछ कीड़े लगे हुए दाँतों के कीड़े निकालने में दक्ष होते हैं। इसके लिए वे सूखी जड़ी का प्रयोग करते हैं, जिसे वे ख़राब मसूढ़े में छुआते हैं। इनमें से कुछ जादूगरों और ओझाई का काम भी बड़ी आसानी से कर लेते हैं और भूत-प्रेत के असर से बचाव के लिए लोगों में उदारतापूर्वक तावीज़ बाँटते हैं, जिससे उन्हें अपने में लोगों का विश्वास जमाने में मदद मिलती है। वे अपने साथ ज़िन्दा साँप भी रखते हैं और अपने पास रखी हुई जादू की जड़ी को साँप से धीरे-धीरे छुआकर बड़ी चतुरता के साथ उसका विष मुग्ध दर्शकों की भीड़ के सामने खींचकर बाहर निकालते हैं। जिस गाँव या क़स्बे में वे ठहरते हैं वहाँवालों का वे काफ़ी मनोरञ्जन करते हैं। लेकिन जिस समय वे वहाँ से चल देते हैं तब बहुत-से परिवारों के लोगों को यह पता चलता है कि उनके ठहराने का उन्हें क्या मूल्य चुकाना पड़ा है!

कंजड़ उन जातियों में हैं जो कि उत्तर भारत में सब से अधिक फैली हुई हैं और जिनकी पुराने ज़माने में यजमानियाँ थीं, जिससे कि जिन गाँवों में होकर वे गुज़रती थीं और उनका मनोरञ्जन करती थीं वहाँ के लोग उन्हें एक अवधि के भीतर एक निश्चित बँधी हुई रक़म देते थे। कंजड़ परिवारों की यजमानियाँ अलग-अलग बँटी हुई थीं और हरएक परिवार के पास कुछ गाँव होते थे, जिनमें वह समय-समय पर उगाही पाता था। कंजड़ लोग गायक और नर्तक के रूप में इतने लोकप्रिय थे कि गाँववाले उन्हें रुपये-पैसे और कभी-कभी पशु भी भेंट करते थे। आजकल नाचने और मनोरञ्जन करने के पेशे आमदनीवाले पेशे नहीं रह गए हैं और अनेकों कंजड़ परिवार या तो खेतीबारी का धन्धा अपनाकर बस गए हैं या गाँव में चोरी करके जीविका चलाते हैं। इन जातियों की आम पोशाक पुरुषों के लिए एक कुर्ता और पायजामा तथा स्त्रियों के लिए लहँगा और कुर्ता होती है। ये लोग अनेक प्रकार की चीज़ें खाते हैं। बाजरा, फल, जंगल के कन्दमूल और चिड़ियाँ, जिन्हें वे चतुरता से फँसाते हैं, आम तौर पर इनका रोज़ाना का खाना है। किन्तु वे सभी प्रकार के जानवरों को, यहाँ तक कि मेढक, साँप, गोह वग़ैरह तथा बदबूदार सड़ा मांस खाते हुए भी सुने गये हैं। वे साँप, छिपकली और गृद्धों के मांस को सुरक्षित रखना जानते हैं और यद्यपि वे इन्हें खाते नहीं, परंतु इनकी चर्बी या तेल निकालते हैं जिसे या तो वे लोगों को बेच देते हैं या ख़ुद अपने इस्तेमाल में लाते हैं। इनमें से अधिकांश बड़े पियक्कड़ होते हैं और अपनी शराब की प्यास बुझाने के लिए भारी क़र्ज़ों में फँस जाते हैं।



एक करवाल प्रौढ़ पुरुष (फ़ोटो—लेखक द्वारा)

यद्यपि मारवारिया अथवा लोखुटा, कंजड़, सतिया, बहेलिया तथा चिड़ियामार सरीखी ख़ानाबदोश और जरायम-पेशा जातियों का अपराधों के कृत्यों से जीविकोपार्जन करना ख़ानदानी पेशा है फिर भी वे ग्रामीणों की कारीगरों के रूप में सेवा करते हैं और गाँववाले उन्हें और उनके डेरे देखकर प्रसन्न होते हैं। मनोविनोद एवं मनोरञ्जन के अभाव में गाँवों का जीवन बड़ा सूना और नीरस हो जाता है। इसलिए गाँव के पड़ोस में इन जातियों के आ जाने से पर्याप्त मनोरञ्जन का साधन जुट जाता है। लोहार सरीखी कुछ जातियाँ औज़ार-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए निश्चित अवधि के बाद आती हैं। इसी भाँति घूम-घूमकर नाचनेवाले नर्त्तक, रस्सी पर चढ़नेवाले मदारी, हकीम व जर्राह, दाँत के वैद्य, भाँट, ज्योतिषी आदि भी ग्रामीण जीवन की कई महत्वपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। गाँववाले जहाँ इन जातियों से अपने बच्चों की रक्षा करने का तथा माल-असबाब पर उन्हें हाथ न लगाने देने का बड़ा ख़्याल रखते हैं, वहाँ वे स्वेच्छा से उनकी परवरिश के लिए चन्दा भी करते हैं और बहुत-से गाँववालों के तो इन ख़ाना-

बदोशों में परम मित्र और प्रेमिकाएँ आदि भी होती हैं।

नागरिक केन्द्रों—मुख्यतया शहरों और क़स्बों—से सम्पर्क होने और साथ ही देहातों में रेलवे, सड़कों और बाज़ारों के खुल जाने से ग्रामीण जनता के दृष्टिकोण में क्रमिक विकास के परिणामस्वरूप आज का ग्रामीण सन्दिग्ध और चालाक हो गया है और अपने अधिकारों और अपनी सुविधाओं की रक्षा का बहुत ध्यान रखने लगा है। इसलिए ख़ानाबदोश और जरायमपेशा जातियाँ केवल ग्रामीणों के शोषण से जीविका चलाने में अधिकाधिक कठिनाइयाँ अनुभव कर रही हैं। इन जातियों में ऐसे समूहों की संख्या, जो कि पेशेवर जातियों के रूप में बसती जा रही हैं, बराबर बढ़ती ही जा रही है। चूँकि पेशेवर जातियों के सदस्यों के रूप में जीविकोपार्जन के अवसर सीमित हैं इसलिए इस जाति के अधिकांश परिवारों पर महाजनों का बहुत ज़्यादा ऋण लद गया है जो कि इन ख़ानाबदोश जातियों को दिल खोलकर क़र्ज़ देते हैं। इनमें से कुछ जातियों के लोग तो अपनी पत्नियों और बहुओं को भी छोटे-छोटे क़र्ज़ के लिए इन महाजनों के पास बन्धक रख देते हैं और क़र्ज़ चुका देने के बाद फिर उन्हें महाजनों से छुड़ाकर वापस ले लेते हैं। बन्धक रखने की इस अवधि में यदि कोई सन्तान उत्पन्न हो जाय तो उसे महाजन के पास ही छोड़ दिया जाता है जो दास के रूप में उसका भरण-पोषण करता है अथवा उसे गोद ले लेता है। इन ख़ानाबदोश जातियों के अपराध के कार्यों के प्रोत्साहन और समर्थन के लिए ये महाजन कहाँ तक उत्तरदायी हैं इसकी जाँच निस्संदेह मनोरञ्जक होगी, जबकि संगठित लूट और डाकाज़नी के द्वारा इनमें से कुछ जातियों का जीविका-निर्वाह हो सकता है—जैसा कि उत्तर भारत के भाँतू जाति के लोगों का। इस कार्य में ख़तरे भी बहुत हैं और इन ख़ानाबदोश जातियों में से अधिकांश जातियाँ छोटी-मोटी चोरी-छिछोरी के कामों पर गुज़र करती हैं। इनमें से अधिकांश जातियाँ अपने को राजपूतों की सन्तान बतलाती हैं जिनकी कुछ विशेषताएँ इनमें मिलती हैं, यद्यपि इन जातियों के बहुसंख्यक समूह विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण से बने हुए हैं।

ख़ानाबदोश और जरायमपेशा जातियाँ अध्ययन के लिए एक जटिल क्षेत्र उपस्थित करती हैं। इस अध्ययन में केवल सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक और धार्मिक समस्याएँ ही नहीं बल्कि नस्ल-सम्बन्धी समस्याएँ भी सम्मिलित हैं। ख़ास-ख़ास जरायमपेशा जातियों का क्रमबद्ध अध्ययन न केवल उनके जातीय संगठन, लोगों के स्वभाव और उनकी आदतों, उनका सामाजिक संगठन, धार्मिक रीति-रिवाज तथा उनकी मनोवृत्ति—जो कि स्वतः एक मनोरञ्जक सामग्री है—को समझने के लिए ही बल्कि देश के सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन में उनका क्या स्थान है इसे समझने के लिए भी ज़रूरी है। अगले पृष्ठों में मैं संक्षेप में करवाल लोगों का जीवन वर्णन करूँगा। यह युक्तप्रान्त की एक मनोरञ्जक जरायमपेशा जाति है और आबादियों तथा आबादी से बाहर दोनों ही जगहों पर रहती है। अगले लेख में मैं दो और महत्वपूर्ण जरायमपेशा जातियों के सांस्कृतिक जीवन का विवरण दूँगा।

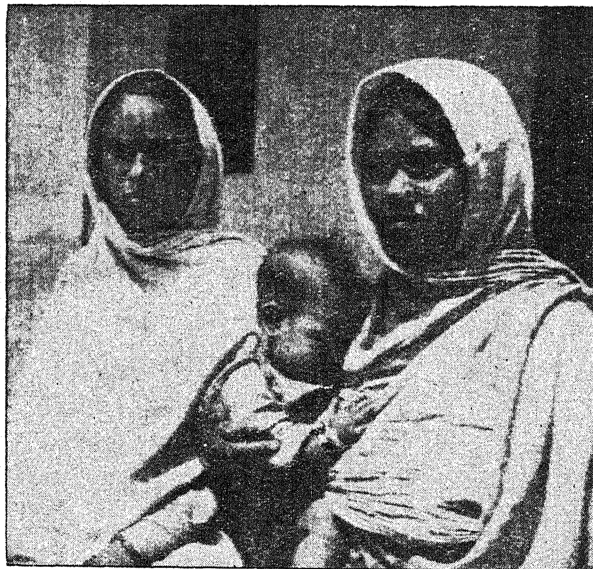


करवाल नवयुवतियों का एक समूह (फ़ो॰—लेखक द्वारा)

करवाल अपने को राजपूतों की संतान बताते हैं। करवालों का शारीरिक गठन निस्सन्देह इस बात का द्योतक है कि उनका सम्बन्ध राजपूतों से है, यद्यपि उनमें बड़े पैमाने पर निम्न नस्लों के रक्त का भी सम्मिश्रण पाया जाता हैं। किम्वदन्तियों और प्राचीन काल से चली आनेवाली कथाओं से यह पता चलता है कि केन्द्रीय दोआब के बेरिया, उत्तरी दोआब के गिडिया, हाबुरा और भाँतू, मथुरा और भरतपुर के कंजड़ तथा राजपूताना के घारकुला लोग और करवाल लोग एक ही पूर्वज के वंशज हैं।

यद्यपि इन कपोल-कल्पित कथाओं से राजपूतों के साथ करवाल लोगों का वास्तविक रक्त-सम्बन्ध नहीं सिद्ध होता, किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऊपर जिन विभिन्न जरायमपेशा जातियों का उल्लेख किया गया है वे नस्ल की दृष्टि से एक ही स्तर की हैं, जिनमें परस्पर थोड़ा-बहुत मिश्रण हुआ है। इनमें से प्रत्येक जाति अपने भीतर ही विवाह करनेवाले दो-तीन गोत्रों में बँटी हुई है, यद्यपि जरायमपेशा बस्तियों में विवाह के नियमों का पालन अधिकतर उनके उल्लंघन में ही किया जाता है।

साँसिया लोगों की तरह करवाल लोग विभिन्न जातियों की नाबालिग़ लड़कियों को भगा ले जाया करते हैं। इसलिए उन्हें विवाह-सम्बन्धी अपने जातीय नियम के बंधन में पड़ने की ज़रूरत ही नहीं होती। इस बात का पता चला है कि ये लोग अपनी लड़कियों को ऐसे ग्राहकों के हाथ बेच देते हैं जो कि उनकी सुन्दरता के कारण उनसे विवाह कर लेते हैं। किन्तु अधिकांशतः ये लड़कियाँ लोगों को ठगने में इनकी सहायक होती हैं अथवा छिपे-छिपे व्यभिचार का जीवन व्यतीत करती हैं। अन्ततोगत्वा उनके पति उन्हें निर्लज्जतापूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य करते हैं, जिसके लिए बचपन से ही उन्हें शिक्षा मिली होती है।



दो करवाल स्त्रियाँ (फ़ो०—लेखक द्वारा)

कुछ करवाल भाँट या चारणों का काम करते पाये जाते हैं और ऐसे जाट या राजपूत कबीलों के साथ रहते हैं जिनके पूर्वजों की यशोगाथा वे कंठस्थ किये रहते हैं। उनके विवाह साधारणतया पड़ोस तक ही सीमित होते हैं—साधारणतः जाने-सुने परिवारों के ही भीतर। उनकी बस्तियों में बहुत-से परिवारों में निकट सम्बन्धियों में वैवाहिक सम्बन्ध इतना अधिक बढ़ गया है कि वह कई दृष्टियों से अस्वास्थ्यकर मालूम होता है। करवाल समाज में फूफा को बहुत महत्त्व प्रदान किया जाता है और समाज की ओर से पिता के स्थान पर फूफा ही अपने भतीजे का अभिभावक स्वीकार किया जाता है। जामाता साधारणतः अपने ससुराल के परिवार का सदस्य होकर रहता है और बहुत-से परिवारों में विवाह अथवा मृत्यु-संस्कार के उपचार उसी के द्वारा सम्पन्न होते हैं। करवाल लोगों में दूसरी जयरामपेशा जातियों की तरह स्त्रियों की संख्या पुरुषों से कम होती है और यही कारण है कि करवाल लोगों को वधू का बहुत भारी मूल्य चुकाना पड़ता है। जब तक कोई करवाल तीन सौ से लेकर पाँच सौ रुपये तक नहीं ख़र्च कर सकता तब तक उसके लिए विवाह करना सम्भव नहीं और बहुतों को तो इसकी दुगनी और तिगुनी रकम तक ख़र्च करनी पड़ती है।

करवाल लोगों में विवाह की रस्म बहुत सीधी-सादी होती है। उनके विवाहों में ख़ूब डटकर सुरापान किया जाता है। दल का मुखिया वर के मस्तक पर तिलक लगाता है। इसके बाद वह अपनी सास के पास ले जाया जाता है जो कपड़े और चाँदी देकर उससे भेंट करती है। वर को एक घोड़े पर बैठाकर घर-घर ले जाया जाता है। प्रत्येक परिवार को उसे कुछ-न-कुछ रक़म भेंट करनी पड़ती है—चाहे वह चाँदी का सिक्का हो या कोई एक कपड़ा हो, और प्रत्येक परिवार से कम-से-कम एक आदमी को इस बारात में शामिल होना पड़ता है। इस प्रकार जो धन संगृहीत होता है वह भोज में ख़र्च किया जाता है, जिसमें मांस और मदिरा का विशेष प्रयोग होता है। पति के कबीले में पत्नी का नियमित रूप से प्रवेश वैवाहिक उपचार का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है और इसके लिए करवाल, साँसिया और कंजड़ लोग साधारणतया एक मनोरञ्जक ढंग से काम लेते हैं। करवाल लोगों का कहना है कि पहले ज़माने में क़बीले में वधू के प्रवेश के उपलक्ष्य में मनुष्य की बलि दी जाती थी, किन्तु आजकल मनुष्य के स्थान पर पशुबलि से ही काम चलाया जाता है और

बलिपशु के रुधिर में मदिरा मिलाकर वर-वधू के पान करने पर दम्पति का विवाह सम्पन्न समझा जाता है। जैसा कि कञ्जड़ लोगों में प्रचलित है, वर के क़बीले में वधू का मिलन भुने हुए मांस के टुकड़े को खिलाकर भी किया जाता है। यह गोश्त साधारणतया बकरे का जिगर होता है। वर अपने गोश्त के टुकड़े का एक कौर काटता है और वधू से दूसरे आधे भाग को इसी प्रकार काटने के लिए कहता है। वधू स्वेच्छा से ऐसा नहीं भी कर सकती है उस समय वर दाँत से काटे हुए गोश्त के टुकड़े को अपने दाँतों में पकड़ रखता है और उसके दूसरे भाग को वधू के मुख में रखने का प्रयत्न करता है। इसके परिणाम-स्वरूप दोनों की शक्ति की परीक्षा होती है और एकत्रित भीड़ का पर्याप्त मनोरञ्जन होता है। विवाह-संस्कार का वह अंश जो वर-वधू को एक सूत्र में बाँधता है 'फेरा' कहलाता है। विवाह की निश्चित तिथि को वर अपने मित्रों के एक दल के साथ आ पहुँचता है और यदि वधू शान्ति-पूर्वक आत्मसर्पण नहीं करती तो बलपूर्वक युद्ध में पकड़ने के उद्देश्य का स्वाँग रचा जाता है। वर पड़ोस में प्रतीक्षा करती हुई वधू को सहसा आकर पकड़ लेता है, भीड़ के सामने घसीटकर ले जाता है और विवाहस्थल के लट्ठे के चारों ओर उसे ७ बार घूमने के लिए विवश करता है और उसके मस्तक पर एक लाल रंग की टिकुली लगा देता है। यही क्रिया बाज़ाप्ता दम्पति को एक दूसरे से संयुक्त करती है।

तलाक़ के मामले एकदम बिरले हों या बहुत कम हों ऐसी बात नहीं है। अनमेल विवाह, परित्याग अथवा कर्तव्य-विमुखता की दशा में पत्नी ही सर्वप्रथम तलाक की कार्रवाई शुरू करती हुई पाई जाती है। किन्तु, यदि अपने वैवाहिक उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में वह निर्धारित क़बीले के नियमों का उल्लंघन करती है, जैसा कि वह अक्सर करती रहती है, तो दो कारणों से उसकी अधिक आलोचना नहीं की जाती। पहला कारण यह है कि इन जातियों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या बहुत कम होती है, इसलिए क़बीले में उनकी बड़ी माँग रहती है। दूसरा कारण यह है कि स्त्री जुर्म के कामों में उनका हाथ बँटाती है और पुरुष अनैतिक उद्देश्यों की पूर्त्ति में उसका उपयोग करते हैं। लोगों को धोखा देकर जाल में फँसाने तथा गुप्त रूप से लोगों के घर का भेद मालूम करने में तथा संगठित चोरी-डकैती में इनकी अनिवार्य आवश्यकता होती है। जहाँ ठगी तथा लोगों को बदनामी का भय दिखाकर उनकी धन-सम्पत्ति ऐंठने के लिए स्त्रियों को अन्य पुरुषों से मिलने-जुलने की स्वतंत्रता रहती है वहाँ ऐसे सौदे के एक अंग के रूप में कुछ निश्चित सीमा तक स्वच्छन्दता स्वीकार करनी ही पड़ती है और इस प्रकार करवाल लोगों में विवाह-बन्धन के बाहर अतिरिक्त सम्बन्ध की स्वच्छन्दता एक स्वीकृत नियम बन जाती है। यदि कोई स्त्री अपने पति को छोड़कर किसी दूसरे पुरुष से विवाह करना चाहती है तो उस पुरुष के शादी के ख़र्च के सम्बन्ध में पहले पति के सम्बन्धियों को हर्जाना देना पड़ता है। दूसरे पति के लिए यह आसान बात नहीं है, क्योंकि शादी काफ़ी ख़र्चीली होती है और शादी के ख़र्च के हर्जानों में काफ़ी भारी रक़म देनी पड़ती है। किन्तु दोनों पक्षों द्वारा पावने में कमी करने के लिए अपनी सुसंगठित और दृढ़ पंचायत से लाभ उठाया जाता है।

मृत्यु तथा मरणोत्तर क्रिया के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न रीति-रिवाज उनमें कई संस्कृतियों के सम्मिश्रण के द्योतक हैं। जहाँ-कहीं क़बीले के लोगों का मुसलमानों से सीधा सम्पर्क है वहाँ वे अपने मृतकों को गाड़ते हैं और जहाँ हिन्दुओं का प्रभाव प्रधान हैं वहाँ वे हिन्दुओं में प्रचलित रिवाजों के अनुसार ही मुर्दों को जलाते हैं। मृतक के मुख में अथवा ललाट पर सिक्के या पैसे रखने का आस्ट्रोलॉइडों में पाया जानेवाला रिवाज करवाल लोगों में आम तरीक़े से प्रचलित हैं। मृतक के शरीर का शिरोभाग पश्चिम की ओर और पैर पूर्व की ओर रखा जाता है। जामाता को, जिसे कि गाड़ने अथवा दाहक्रिया सम्बन्धी कार्यों में प्रमुख भाग लेना पड़ता है, चार दिन तक घरवालों से अलग रहना पड़ता है। इस अवधि में वह स्वयं अपने हाथ से अपना भोजन बनाता है और उसका एक भाग मृतात्मा को समर्पित करता है। गाड़ने अथवा दाह-क्रिया के चौथे दिन क़बीले के लोगों को गाँव के चन्दे से एक भोज दिया जाता है। मांस और मदिरा में सबसे अधिक व्यय किया जाता है। मृतक के मित्रों को अर्थात् उन लोगों को, जो कि शव की टिकठी को श्मशान तक ले जाते हैं, दाह-संस्कार के बाद ३०वें दिन परिवार की ओर से खाना खिलाया जाता है।

साँसिया और कंजड़ लोगों की तरह करवाल भी काली आदि देवियों तथा विभिन्न भूत-प्रेतों में विश्वास करते हैं जो कि उनके विश्वास के अनुसार उनके जीवन और चरित्र को प्रभावित करते हैं। उनके देवी-देवताओं के समूह में मुसलमान पीर अथवा धार्मिक साधु-महात्माओं का भी महत्वपूर्ण स्थान है और 'अदृष्ट का भय' ही उनकी पूजा

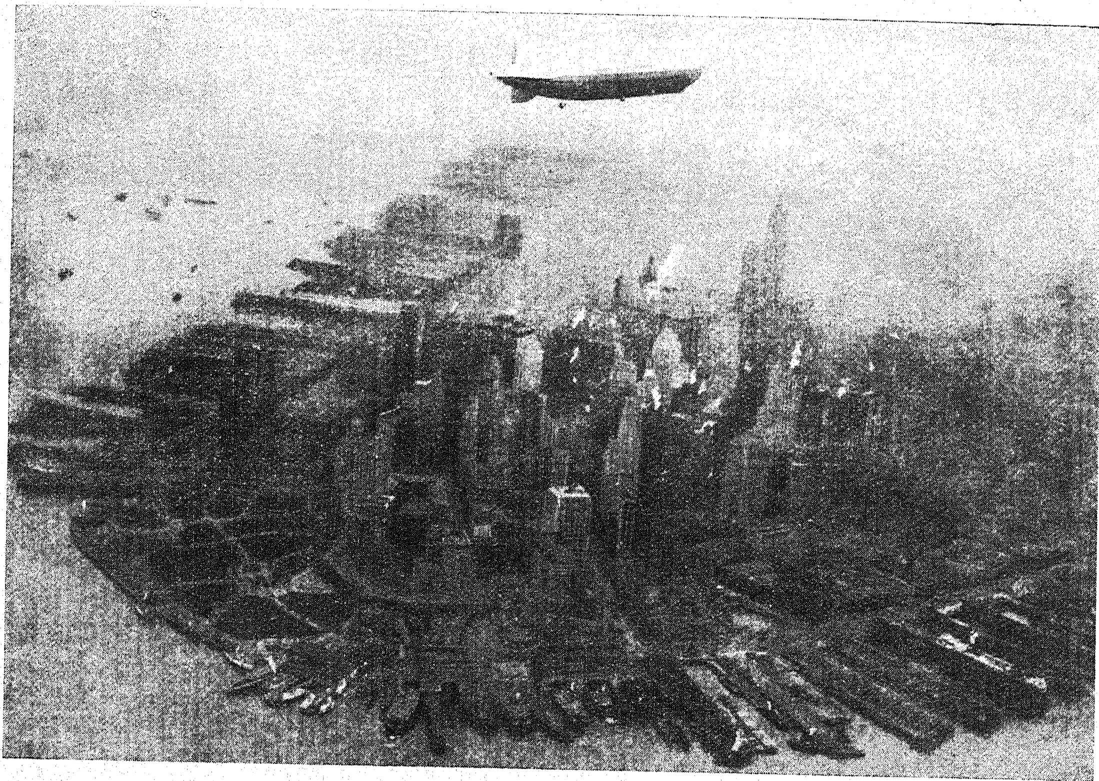
का मुख्य सिद्धान्त है। सर्पदेवी की भी पूजा की जाती है और तावीज़ें तथा बूटियाँ भुजाओं पर बाँधी जाती हैं ताकि सर्पदंश से ये लोग सुरक्षित रहें। अमावस्या के बाद प्रथम रात्रि बहुत शुभ समझी जाती है और प्रत्येक ऐसी रात्रि के अवसर पर काली को पूजा और बलि चढ़ाई जाती है। इसके बाद वे चोरी अथवा डकैती के लिए बाहर निकलते हैं। उनमें ओझा और वैद्य भी होते हैं जो कि भूत-प्रेतों को सिद्ध करते और उनके द्वारा पैदा की गई यातनाओं से छुटकारा दिलाते हैं।

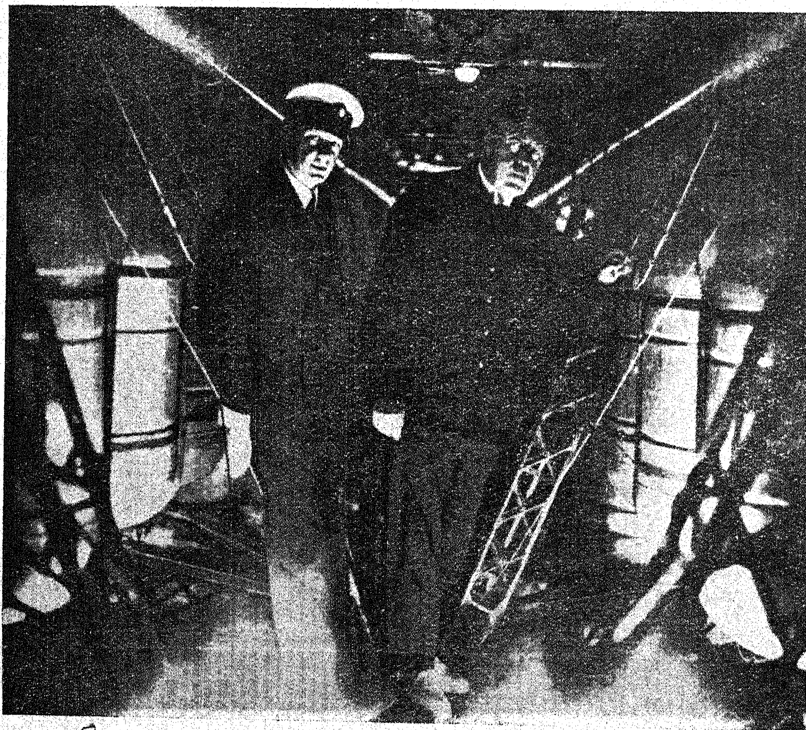
करवाल लोगों में पंचायत का दृढ़ शासन है। जाति अथवा दल के विरुद्ध किये गये अपराध की कड़ी सज़ा दी जाती है और अपराध का निर्णय करने के लिए मनोरञ्जक तरीक़े काम में लाये जाते हैं। चरित्रभ्रष्ट स्त्री को अपने को निर्दोष प्रमाणित करने के लिए लोहे के एक गर्म टुकड़े को अपनी हथेली पर सात पत्तियों के ऊपर रखना पड़ता है और उसे लेकर सात क़दम आगे चलना होता है। यदि उसकी हथेली जल जाय तो वह अपराधिनी घोषित कर दी जाती है। जब ये लोग डाका डालते हैं तो ख़ज़ाने को गाँव से दूर किसी स्थान पर गाड़ देते हैं और जब तक कई महीने नहीं गुज़र जाते तब तक वे उसे नहीं खोदते ताकि वे इन चीज़ों को रखने के कारण पकड़ न लिये जायँ। उनका कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत होता है। वह दो तीन प्रान्तों में फैला हुआ होता है। उनका संगठन इतना पक्का है कि वर्षों तक पुलिस को उन्हें पकड़ने में असफल होना पड़ा है और उनके डाकुओं के दल अरसे तक अपना काम करते रहे हैं। इनमें से कुछ दलों का नेतृत्व स्त्रियाँ करती हैं और ऐसा देखा गया है कि उनका प्रभाव दल के सदस्यों पर उनके ही समानवाले पदों के पुरुषों से कहीं अधिक होता है। वे कलवार, सुनार आदि की मार्फ़त लूट के माल को बेचते हैं। पहचान के किसी चिह्न को उड़ा देने के लिए इनकी सहायता का महत्त्व निर्विवाद है।



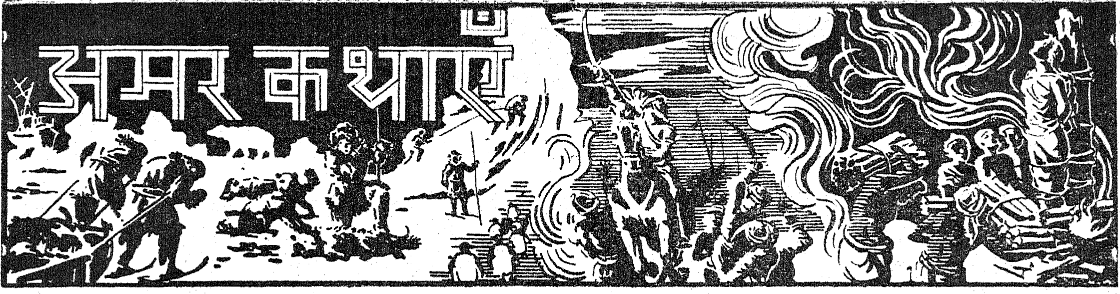
करवाल स्त्रियों का एक समूह (फ़ो०—लेखक द्वारा)

जब दल का कोई सदस्य मर जाता या घायल हो जाता है अथवा अपाहिज हो जाता है तो नेता से उसे पेंशन मिलती है और इसके लिए शरीर के विभिन्न अंगों से लेकर प्राणहानि तक के हर्जाने की एक विस्तृत तालिका होती है। पंचायत की यह ज़िम्मेदारी होती है कि वह क़बीले अथवा स्थानीय समूह के भीतर शान्ति क़ायम रक्खे। और सदस्यों से जैसे अनुशासन की माँग की जाती है वह कभी-कभी आदर्श की सीमा पर पहुँच जाता है यद्यपि उसका उद्देश्य अपराधात्मक होता है। ये लोग अनेकों स्थानीय बोलियाँ बोलते हैं और पुलिस के सिपाही, साधु और यहाँ तक कि सरकारी अफ़सरों का भी भेष बना लेते हैं और कभी-कभी आश्चर्यजनक ख़ूबी के साथ वे अपना पार्ट अदा करते हैं। करवाल लोगों को बकरे के मांस से विशेष रुचि होती है और जब वे एक साथ मिलते हैं तो अवश्य ही एक बकरे को मारते हैं जो कि कभी-कभी उनके लिए प्राण-घातक प्रमाणित हुआ है, क्योंकि इसके द्वारा पुलिस को उनकी टोह लगाने में सहूलियत हुई है। जब वे दूसरों की उपस्थिति में आपस में बातचीत करते हैं तो आम तौर से प्रचलित शब्दों में नये प्रत्यय जोड़कर और अक्षर-समूहों को निकालकर उनका स्वरूप ही बदल देते हैं जिससे कि दूसरों की समझ में उनकी बोली अबूझ बन जाती है। करवाल बच्चे अपने पेशे की चालाकियाँ, चोरी और सेंध मारना अनुभव से सीख लेते हैं। ऐसा वे अपने बड़ों की नक़ल करके और साधारणतः अपने माता-पिता की ही देख-रेख में करते हैं, किन्तु माता-पिता बाल्यकाल से ही उन्हें आत्मरक्षा की बातों—जैसे सच-सच न बतलाना, अपने भाई-बहनों को न फँसाना, एक व्यक्ति के अपराध को सामूहिक उत्तरदायित्व का रूप देना आदि—की शिक्षा स्वयं देते हैं। पिता से पुत्र के रक्त में किस हद तक अपराध की प्रवृत्ति आती है यह खोज का विषय है। किन्तु यदि अपराधात्मक आचरण का उत्तरदायित्व परिस्थिति पर है तो समाज का कर्त्तव्य है कि वह इस तरह के लोगों के उद्धार का उपाय करे।





(ऊपर) अपनी ऐतिहासिक यात्रा से वापसी के समय संसार के सबसे बड़े नगर न्यूयार्क की गगनचुम्बी अट्टालिकाओं पर अपनी छाया डालते हुए मँडरा रहा 'ग्राफ़' ज़ैप्लिन। नीचे न्यूयार्क के विशाल बंदरगाह में बड़े-बड़े जहाज़ ऐसे दिखाई पड़ रहे हैं मानों मामूली किश्तियाँ हों। पृष्ठभूमि में संसार की सबसे ऊँची इमारत 'एम्पायर स्टेट बिल्डिंग' अपना मस्तक उठाए मानों 'ग्राफ़' को छू लेना चाहती है। (बाईं ओर) उड़ान के पूर्व डा० एकनर अपने पुत्र के साथ वायुपोत की तेल की टंकियों की जाँच कर रहे हैं।



वायुपोत द्वारा सर्वप्रथम पृथ्वी-परिक्रमा

केवल इक्कीस दिन में पृथ्वी के चारों ओर घूम आनेवाले साहसिक डाक्टर एकनर और उनके 'ग्रॉफ ज़ैप्लिन' की रोमाञ्चक कथा

अगस्त ८, १६२६, का प्रातःकाल। उत्तरी अमेरिका का लेकहर्स्ट नामक हवाई-स्टेशन। हज़ारों स्त्री-पुरुषों की भीड़। मैदान में संसार का सबसे बड़ा वायुपोत 'ग्रॉफ़ ज़ैप्लिन' अपना दैत्याकार शरीर फैलाए पड़ा है। लोग उत्सुक निगाह से उस विशालकाय तुम्बे की ओर आँखें गड़ाए हुए हैं। बच्चे बूढ़ों के कंधों पर चढ़े उस तुम्बे को देख लेने की अपनी भूख मिटा रहे हैं तो युवक भीड़ को चीरकर उसके नज़दीक ही पहुँच जाने के प्रयत्न में हैं। वायुपोत के चारों ओर अजीब हलचल मची हुई है। कोई उसमें तेल भरने में संलग्न है तो कोई पानी। कुछ लोग आवश्यक वस्तुएँ लेकर रख देने ही में तत्पर हैं। वायुपोत के नज़दीक ही एक शिष्ट समुदाय भी खड़ा है जो एक वृद्ध किंतु मांसल व्यक्ति को घेरे हुए है। यही वृद्ध कैप्टन ह्यूगो एकनर हैं, और इनके साथ ही खड़े हैं कुछ तेजस्वी युवक भी एक प्रसन्न मुखमुद्रा लिये। सबकी आँखों में साहस और निश्चय की सूचना है। प्राणों की बाज़ी लगाकर जिन्होंने समय-समय पर प्रकृति के दुर्गम प्रदेशों को आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए सुगम बना दिया, जिन्होंने उसके एकछत्र शासित साम्राज्य पर धावा बोलकर उसमें मानव की भावी यात्रा के लिए नई-नई पगडंडियाँ निकाल लीं, उन्हीं वीर पुरुषों की अनेक टोलियों में से एक टोली यह भी है। यह टोली वायुपोत द्वारा सर्वप्रथम पृथ्वी की परिक्रमा करने पर उतारू है, और यद्यपि संसार उनकी सफलता के बारे में अभी सशंकित ही है, परंतु उनके अपने मन में न तो ख़तरे का ही भय है न असफलता की ही रत्ती भर आशंका।

ठीक समय पर एक संकेत हुआ और एकनर अपने दल सहित वायुपोत के अन्दर चले गए। अब वायुपोत के उड़न-खटोलों के झरोखों में से निकले उनके चेहरे ही दिखाई देते थे। नीचे खड़े हुए लोग हर्षित हो उन्हें बिदा दे रहे थे और वे सकृतज्ञ सबके प्रति धन्यवाद प्रकाशित कर रहे थे। दूसरा संकेत होते ही वायुपोत के रस्से खोल दिए गए। अब यह भीमकाय यान धीरे-धीरे ज़मीन से ऊपर उठने लगा और लोगों की आँखें भी उसके साथ ही मानों ऊपर की ओर खिंचती चली गईं। ऊपर उठते ही वायुपोत की रफ़्तार तेज़ हुई और वह आसमान में ज़ोरों से मँडराने लगा। वह अब बहुत ऊँचा उठ चुका था और एक दिशा विशेष की ओर बढ़ने लगा था। उसका आकार इस समय घटकर एक बड़े लम्बे कद्दू की शक्ल का हो गया था। कुछ समय और बीता और 'ग्रॉफ़' लोगों की आँखों से ऐसा ओझल हो गया, मानों क्षितिज ने बादलों की तरह उसे भी अपने उदर में सदा के लिए निगल लिया हो।

यों अच्छे मौसम में छोटे-छोटे वायुपोतों में डा॰ एकनर इससे पहले न जाने कितनी छोटी-छोटी उड़ाने ले चुके थे, किंतु इतने भारी भरकम वायुपोत में, जिसमें कि सैकड़ों गैलन केवल तेल ही भरा हो, एक लम्बी—सारी दुनिया की—उड़ान लेना दुस्साहस नहीं तो और क्या था! किंतु जिसने अपनी जिज्ञासा को महत्व दिया उसने मुसीबतों की कब चिंता की? साहसी व्यक्ति तो घोर आँधी, बवंडर और तूफ़ान में भी अपनी नाव निश्चिंत होकर छोड़ देता है।

तो फिर आइए, हम लोग भी ग्राफ़ के साथ ही हो लें। इस समय वह एक मील प्रति मिनट की रफ़्तार से भागा चला जा रहा है। मौसम की अनुकूलता ने उसकी गति को और भी स्वच्छन्द बना दिया है। एक के बाद एक वह सर्राटे से नए-नए मैदान मार रहा है। जिस रफ़्तार से वह एक के बाद दूसरे प्रदेशों में प्रवेश कर रहा है, मौसम भी उसी तरह पलटता जा रहा है। अभी आकाश स्वच्छ है तो

थोड़ी देर में घना कुहरा और फिर वर्षा भी। इन्हीं मुसीबतों को चीरते हुए यह वायुपोत अब अमेरिका से योरप की ओर उड़न लगा। लेकहर्स्ट से जर्मनी के फ्रेड्रिकशेफन तक की ४२०० मील की हवाई उड़ान, बीच में एटलांटिक की विस्तृत जलराशि और थमने या उतार के लिए कहीं ज़मीन का नाम भी नहीं! किंतु एकनर को अमेरिका से योरप तक की यह कुदान एक मामूली खिलवाड़-सी मालूम हुई। इसके पहले १६२८ में इसी वायुपोत को बिना कहीं रोके जर्मनी से अमेरिका को और वहाँ से पुनः वापिस जर्मनी ले जाकर उन्होंने एटलांटिक पर विजय प्राप्त कर ली थी। अतएव इस बार भी बिना किसी उल्लेखनीय घटना के सही सलामत 'ग्राफ़' मातृ-प्रदेश जर्मनी पहुँच गया। लेकहर्स्ट से फ्रेड्रिकशेफन तक का ४२०० मील का फासला केवल ५२॥ घंटों के ही अल्प समय में उसने पार कर लिया। रास्ते भर समुद्र की सतह पर अपनी यात्रा तय करते हुए भिन्न-भिन्न देशों के जहाज़ इस आकाशगामी सहयोगी को वायरलेस द्वारा स्थान-स्थान पर बधाई का संदेश देते रहे। वे विशालकाय जलपोत 'ग्राफ़' के यात्रियों को आसमान में अपनी उच्च स्थिति से ऐसे छोटे और खिलौनेनुमा दिखाई पड़ते थे मानों पानी की सतह पर कुछ काग़ज़ की किश्तियाँ तैर रही हों!

फ्रेड्रिकशेफन के हवाई बन्दरगाह में ग्राफ़ को मज़बूर होकर तीन चार दिन विश्राम करना पड़ा। यहीं उसे फिर से तेल-पानी से लैस होना था। १५ अगस्त को वह फिर आसमान की ओर उठा और मातृ-प्रदेश से बिदा हो अपनी यात्रा के उस अनजान और अज्ञात पथ पर अग्रसर हो गया जो क्रमशः उसे शेष योरप और एशिया के वक्षः-स्थल की पूरी चौड़ाई को नापकर पैसिफ़िक के दरकिनारे जापान तक ले जाने को था।

एशिया की यह उड़ान—फ्रेड्रिकशेफ़न से टोकियो तक की यह यात्रा—यदि आसान नहीं, तो भी कम-से-कम लुभावनी तो अवश्य थी। किंतु एशिया की भौगोलिक स्थिति की जब तक पूरी-पूरी जानकारी सुलभ न हो, तब तक हज़ारों फ़ीट ऊँचे मीलों लंबे पहाड़ों और निर्जन प्रदेशों को किस तरह पार किया जाय? फिर भी उत्तरी साइबेरिया के ही रास्ते से अपनी यात्रा करने का दृढ़ विचार एकनर ने कर लिया। यूराल के बाद जिन अनूठे दृश्यों ने उनका स्वागत किया उनसे मानों मुसीबतों के बावजूद भी उनकी यात्रा सुखद ही रही।

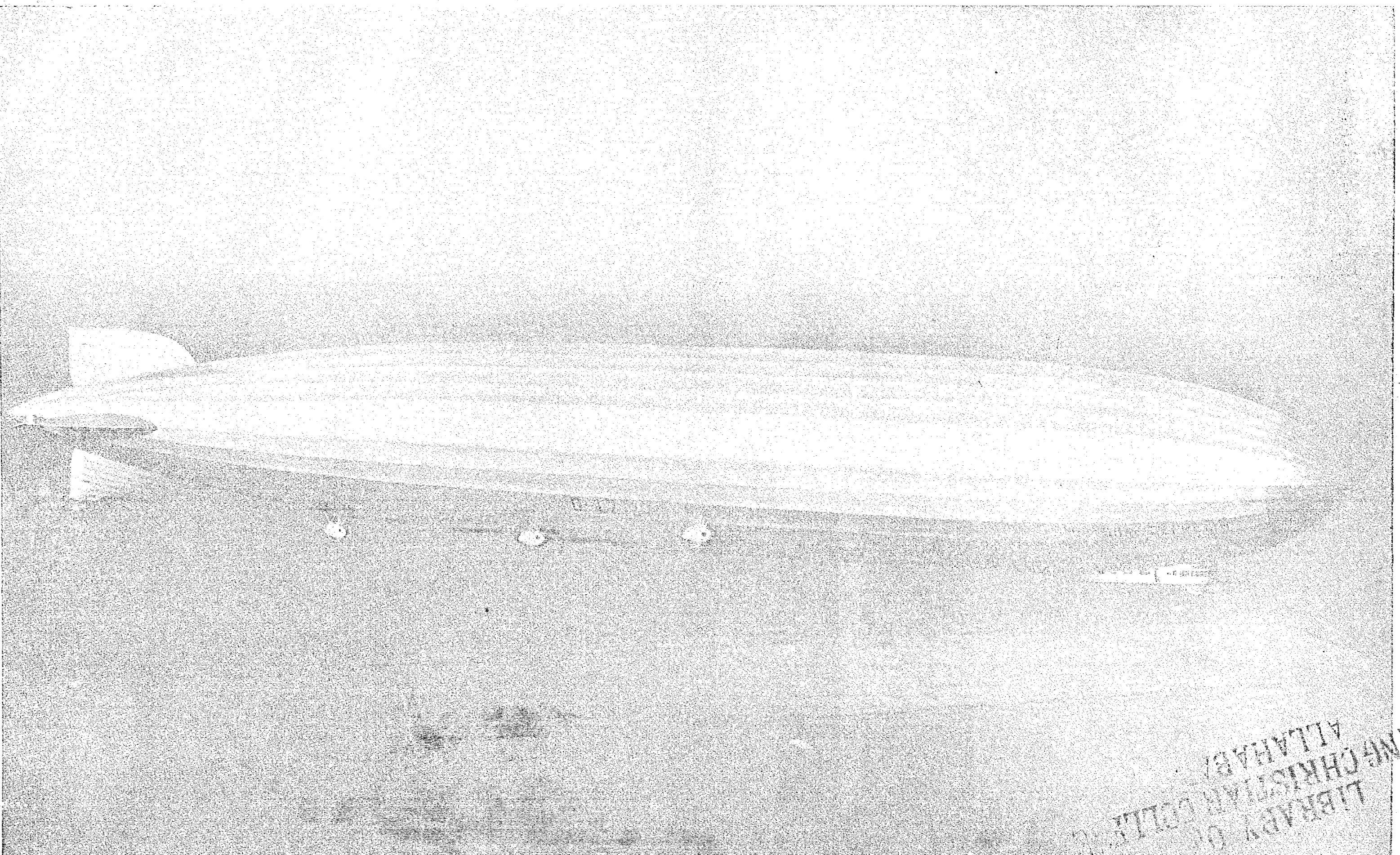
रूस और उसके बाद साइबेरिया का मैदान! अब ज़ैप्लीन की रफ़्तार, देखिए, और भी तेज़ हो गई। किंतु यह क्या, नीचे पृथ्वी पर तो भयंकर आग लगी है! मीलों तक लपटें उठ रही हैं। दावानल से मैदान भभक रहे हैं। धुएँ ने कई वर्ग मील ज़मीन को ढँक रक्खा है। आँखें फाड़ने पर भी नीचे की ज़मीन का एक कतरा भी नहीं दिखाई पड़ता। चालीस-पचास मील तक बेचारों को धुएँ की हवा खानी पड़ी। यदि इस जगह कहीं वायुपोत फट पड़ता तो क्या होता!

आग के बाद पानी की बारी आई—वर्षा का नहीं, असंख्य झीलों में भरा हुआ पानी। तालाबों की मानों कतारें लगी हों, मानों किसी ने उन्हें यहाँ परिश्रमपूर्वक खुदवाया हो! और इसके बाद ही आया एक भयानक ऊजड़-सा प्रान्त। किसी प्राणी के कभी वहाँ पैर भी पड़े होंगे, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। साइबेरिया का यह प्रदेश क्या था मानों पृथ्वी से इतर कोई मानवजनरहित नवीन लोक था।

अब वे ओब नदी के ऊपर से चले जा रहे हैं। मौसम यदि प्रतिकूल नहीं तो एकदम साफ़ भी नहीं है। नदी के दोनों ओर दलदल बिछा हुआ है। आवाज़ के नाम पर केवल ज़ैप्लीन के इंजिनों की घर्र-घर्र ही सुनाई देती है। रात हो चली है, इसलिए बिजली की रोशनी से उसका अन्दर का भाग जगमगा उठा है। दल के सब लोग निश्चिंत होकर खाना खा रहे हैं, हँस-बोल रहे हैं। किंतु नीचे का दलदल तमाम रात और दूसरे दिन के सबेरे ६ बजे तक साथ रहा। ज़रा अन्दाज़ लगाइए, दलदल का यह मैदान कितने मील तक फैला होगा!

साइबेरिया के इन दलदलों को पार कर लेने पर चुपचाप बहती हुई येनिसी नदी के दर्शन हुए। वातावरण में यहाँ की सहज गम्भीरता के अलावा कोई भयानक बात न दिखाई दी। इससे यह आशा तो अवश्य हो चली थी कि अब फिर से बस्तियों और मनुष्य के दर्शन होंगे। किंतु मीलों गहरे घुसने पर भी कहीं मकान, आदमी अथवा इस सुन्दर नदी में चलती हुई एक डोंगी तक का कोई चिह्न उन्हें न मिल सका, जो इनके इन सुन्दर दृश्यों को जीवन से अनुप्राणित कर देता।

तब एकाएक कुछ फूस की झोंपड़िया नज़र आईं। वायुपोत का यह बड़ा-सा थैला ज्योंही उन झोंपड़ियों के निवासियों ने देखा, एक अजीब दृश्य प्रस्तुत हो गया। खट-खट दरवाज़ बन्द हो गए और सब अपनी-अपनी झोपड़ियों में घुस गए! चार-पाँच गाड़ियाँ भी, जो दिखाई दे रही थीं, वायुपोत की घर्र-घर्र सुनकर डर के



आकाश में अपनी लंबी मंज़िल को तय करता हुआ 'ग्राफ़ ज़ैप्लिन'



(ऊपर) 'ग्रैफ़' की सफल यात्रा की समाप्ति का दृश्य। लेकहर्स्ट के हवाई स्टेशन पर एकत्रित उत्सुक जनता डा० एकनर को उनकी सफलता पर बधाई दे रही है। वायुपोत के उड़नखटोले की खिड़की में से नीचे खड़े लोगों से हाथ मिलानेवाले डा० एकनर ही हैं। (दाहिनी ओर) राह में एक हवाई स्टेशन पर ग्राफ़ तैल-पानी लेने के लिए उतरा है।

मारे इधर-उधर भाग चलीं। इनके लिए इस दैत्याकार वायुपोत का यह अनोखा आश्चर्य देखने की वस्तु नहीं, भय की वस्तु थी।

एक घंटा और बीता और एक भयंकर तूफ़ान का सामना पड़ा। इसके ख़तरे से बचने के लिए ये लोग और ऊपर उठ गए। किंतु मुसीबत ने यहाँ भी साथ न छोड़ा। ऊपर चारों ओर बादलों का राज्य था, और सामने घना विस्तृत अन्धकार। हाँ, बहुत दूर सूर्य की कुछ हल्की किरणें मानों आशा की धुँधली रेखा की तरह चमक रही थीं। इस तूफ़ान ने इनके वायुपोत और हृदय दोनों को हिला दिया।

सन्ध्या तक और तमाम रात ये लोग इसी ख़तरनाक दशा में उड़ते रहे। अंत में सबेरे सात बजे याकुत्स्क नामक साइबेरियन नगर के ऊपर पहुँचे। लीना नदी, जिसके मुहाने पर सन् १८८१ में अमेरिकन साहसिक डि लांग और उसके दल के लोगों को भूखों मर जाना पड़ा था, अपने गंभीर प्रवाह से बह रही थी। इसके किनारे बसे इस सुन्दर शहर के दृश्य ने इतनी लम्बी यात्रा के इनके श्रम को मानों सफल बना दिया। वायुपोत से देखी गई घनी बस्ती ने उनकी ऊजड़ प्रान्तों से आती हुई थकित आँखों को सुहावने दृश्यों से तृप्त होने का अवसर दिया। घने अंधकार और विजन में भूले मनुष्य को किसी अन्य व्यक्ति को देख जो बल मिलता है, उससे भी बढ़कर खासे लंबे समय के बाद मनुष्यों की चलती-फिरती सूरतें देखकर एकनर और उनके दल के लोगों को इस समय तसल्ली हुई।

अब उन्हें उड़ते-उड़ते एक हफ़्ता हो रहा है। तमाम हफ़्ते भर अविराम गति से यह वायुपोत सैकड़ों गैलन तेल, मनों पानी और ६० आदमियों का बोझा लेकर उड़ता रहा है। एक मिनिट भी विश्राम के लिए इसे पलक झुका लेने का अवसर नहीं दिया गया और अभी सामने स्टेनोवाई पर्वतों की विस्तृत दुर्गम दीवार उनकी प्रतीक्षा में है। भूगोल की पुस्तकों ने इन्हें बताया था कि ये पर्वत ३५०० फ़ीट से अधिक ऊँचे नहीं हैं। किन्तु ४००० फ़ीट की ऊँचाई पर उड़ते रहने पर भी मालूम हुआ कि पहाड़ों की दीवाल अभी सामने है। ४५००-४६०० और ५००० फ़ीट की ऊँचाई ने भी पहाड़ों को सहज ही में पार कर लेने की सुविधा नहीं दी। अंत में उन्हें वायुपोत को ६५०० फ़ीट की ऊँचाई पर उड़ाना पड़ा।

आख़िरकार एशिया के दीर्घ विस्तार का भी अंत आया और अनेक दिनों के बाद पुनः सागर की हरित-नील जल-राशि के दर्शन हुए। ओखोटस्क का खाड़ीनुमा समुद्र नीचे हिलोरे ले रहा था। एशिया की तट-रेखा पीछे छूट गई थी। अब ग्रॉफ़ जापान की ओर मुड़ रहा था। अभी वे टोकियो शहर से काफ़ी दूर थे लेकिन पुतलीघरों की चिमनियों द्वारा उगलते हुए धुएँ को वे बख़ूबी देख सकते थे। बड़ी-बड़ी इमारतों एवं कल-कारख़ानों से गिच-पिच यह शहर एकदम आकर्षक था। मोटरों की धड़-धड़, मशीनों की खट-खट और अतुल जन-समूह का जनरव उन तक पहुँच रहा था। इस ख़ूबसूरत शहर का एक विहंगम दृश्य पाकर एकनर आदि निहाल हो उठे।

टोकियो के लोगों को ग्रॉफ़ के आने की पहले से ही सूचना थी। एक भारी भीड़ चौराहों पर साँस रोके उसके आगमन की प्रतीक्षा में खड़ी थी। वायुपोत को देखते ही भीड़ ने ज़ोरों के साथ चिल्लाना शुरू कर दिया। ख़ुशी के मारे सब लोगों का दिल बाँसों उछल रहा था। अपनी सफलता के इस विराट् प्रदर्शन ने एकनर और उसकी टोली पर एक विजय एवं गर्वसूचक मुस्कराहट दौड़ा दी।

अब वायुपोत शहर के ऊपर मँडरा रहा है। उसकी घर्र-घर्र आवाज़ से चौंककर इमारतों के सिरों पर बैठे कबूतर फुर्र-से उड़ गए और अख़बार बेचनेवाले लड़के साइकिल रोककर बीच ही में खड़े-खड़े ऊपर की ओर ताकने लगे।

इस बार ७००० मील की लंबी छलाँग उसने भरी थी, अतएव ग्राफ़ की साँसें अब चलते-चलते मानों भर आई थीं। आगे, इसी रफ़्तार से, बिना रुके उड़ना ख़तरे से ख़ाली नहीं था। अतएव उसे रुक जाना पड़ा। टोकियो का जन-समुदाय इस विचित्र जन्तु को देखने के लिए मानों उमड़ पड़ा।

इसके बाद पैसिफ़िक महासागर का सामने फैला हुआ अनंत विस्तार। एक नया ही दृश्य और बिल्कुल अनजान परिस्थितियों का मुक़ाबला। पर घर्र-घर्र करता हुआ यह आकाशचारी भीमकाय यान पूर्वाभिमुख हो बढ़ता ही चला जा रहा था। अंत में सेन फ्रांसिस्को और पुनः अमेरिका की तट-रेखा। टोकियो से रवाना हुए अभी सत्तर घंटे भी नहीं हो पाए थे कि ग्राफ़ सेन फ्रांसिस्को के स्वर्ण-द्वार के ऊपर मँडराने लगा। उसके साथ छूटे टोकियो के समुद्रपोत बेचारे पैसिफ़िक महासागर में न जाने कहाँ चक्कर काट रहे होंगे। एटलांटिक, पैसिफ़िक आदि दुरूह समुद्रों, महान् दुर्गम पर्वतों और मनोरम दृश्यों को दुनिया में सबसे पहली बार पार करने के इस सौभाग्य से एकनर का हृदय खिल उठा। उनके दल के लोग अपनी इस सफलता पर प्रसन्न ही नहीं, मुग्ध मन से गर्वित भी थे।

सेन फ्रांसिस्को के ऊपर मँडराते हुए अपने इस नवागत अतिथि का चित्र खींचने के लिए कई हवाई जहाज़ ऊपर उड़े। बड़ी देर तक वे उसके साथ रहे, किन्तु वायुपोत सिनेमा-व्यवसाय के गढ़ लास-एन्जिल्स की ओर बिना रुके उड़ता चला जा रहा था। लास-एन्जिल्स में उतरकर ग्राफ़ और उसके यात्रियों ने आख़िरी बार विश्रान्ति की एक साँस ली और अब वे अपनी यात्रा की अंतिम मंज़िल को पार करने के लिए चल पड़े। क्रमशः शिकागो और न्यूयार्क की गगनचुम्बी अट्टालिकाओं पर अपनी काली छाया डालते हुए ग्राफ़ वापस लेकहर्स्ट के हवाई-स्टेशन की ओर बढ़ चला।

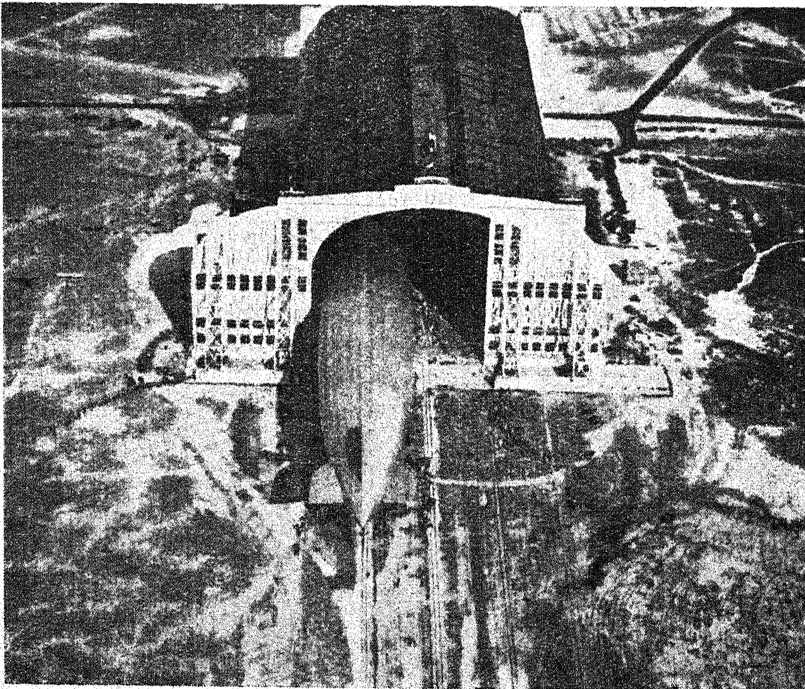
इक्कीस दिन के बाद लेकहर्स्ट के हवाई-स्टेशन पर फिर वैसी ही भीड़ जमा है। लोगों की आँखें आसमान की ओर खिंची किसी की प्रतीक्षा में हैं। सब मानों साँस रोके खड़े हैं। दिल ख़ुशी के मारे धड़क रहे हैं। आज 'ग्राफ़' के साहसिक अपनी पहली सफल पृथ्वी-परिक्रमा का यश लिये लौट रहे हैं। थोड़ा समय बीता और वायुपोत की इक्कीस दिन पहले सुनी गई घर्र-घर्र फिर उनके कानों में पड़ी। वह भीमकाय थैला अब लोगों की निगाह में आ चला। जय-सूचक नारों से दिगन्त गूँज उठा। वायुपोत आकर रुका नहीं कि फूलों से उसके यात्रियों को लाद दिया गया! मैदान फूलों से मानों भर गया था।

आज शहर में जिसके मुँह पर देखिए, इसी यात्रा की चर्चा है। वे लोग भी जिन्हें इस परिक्रमा की सफलता में आशंका थी अब पृथ्वी-परिक्रमा की बातें करने लगे। भला वसुन्धरा पर फैले विस्तृत सौन्दर्य-भाण्डार को देखने की लालसा किसे न होगी!

डाक्टर एकनर की इस यात्रा ने विश्व-सभ्यता के विकास के लिए एक नूतन मार्ग का प्रदर्शन किया। भौगोलिक महत्त्व के अतिरिक्त व्यापारिक दृष्टि से भी ऐसी यात्राओं के मार्गों का ढूँढ निकालना बड़े महत्व का कार्य है।

डाक्टर एकनर की इस सफलता पर अमेरिका की राष्ट्रीय भौगोलिक संस्था ने एक विशेष स्वर्ण-पदक प्रदान कर अपने को गौरवान्वित समझा।

अपनी इस ऐतिहासिक यात्रा के पश्चात् ८०० फ़ीट लंबे, १०० फ़ीट चौड़े और २६५० हार्स पावर की शक्ति के इंजिनों द्वारा खींचे जानेवाले इसी विजयी वायुपोत ने जर्मनी से अमेरिका के सैकड़ों चक्कर लगाए, और अपने इन चक्करों में उसने कुल मिलाकर लगभग दस लाख मील की यात्रा की, जिसमें बत्तीस हज़ार मनुष्यों, अनेक जंगली जानवरों, पियानों जैसे विशाल वाद्य-यंत्रों और छोटे-छोटे हवाई ज़हाज़ों तक को बिना किसी दुर्घटना के एटलांटिक के इस पार से उस पार और वापिस उस पार से इस पार लाकर छोड़ दिया! किंतु इससे भी विशाल वायुपोत हिंडनबर्ग जब दुर्घटनावश जलकर राख हो गया तो जर्मनों ने आशंकावश ग्राफ़ का यह दौड़ना स्थगित कर दिया। आज जर्मनी में इस विशाल वायुपोत के अंदर भिन्न-भिन्न प्रकार के वायुपोतों का एक सुन्दर संग्रहालय या म्यूज़ियम-सा स्थापित कर दिया गया है।



संसार-यात्रा से लौटने के बाद 'ग्राफ़' पुनः लेकहर्स्ट के विशद वायुपोतगृह में विश्राम के लिए प्रवेश कर रहा है।